❀ श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

धर्मः प्रोज्झितः पुंसां विश्वक्सेन-कथासु यः ।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

० भागवत-पत्रिका

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगल दायक॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बन्धनकर॥

वर्ष १ | गौराब्द ४६६, मास—वामन ३०, वार—प्रद्युम्न मङ्गलवार, २० आषाढ़ पूर्णिमा, सम्वत् २०१२, ५ जुलाई १९५५ | संख्या २

श्रीश्रीजगन्नाथाष्टकम्

(श्रीगौरचन्द्र-मुखपद्म-विनिर्गतम्)

कदाचित् कालिन्दीतट-विपिन-सङ्गीत-तरलो
मुदाभीरी-नारी-वदन-कमलास्वाद-मधुपः ।
रमा-शम्भु-ब्रह्मामरपति-गणेशार्चितपदो
जगन्नाथःस्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे ॥

जो कभी-कभी श्रीयमुना के तटवर्ती वन में गान करते-करते भ्रमर के समान व्रज-गोपियों के मुखारविन्द का आनन्दपूर्वक आस्वादन करते हैं तथा नारायणी श्रीलक्ष्मीजी, सेवक-भगवान् शंकरजी, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, देवराज इन्द्र और सिद्धिदाता गणेशजी जिनके चरणों का सदा-सर्वदा अर्चन करते हैं, वे मेरे स्वामी जगन्नाथजी मेरे नयनगोचर हों ॥१॥

भुजे सव्ये वेणुं शिरसि शिखिपिच्छं कटितटे
दुकूलं नेत्रान्ते सहचर-कटाक्षं विदधते।
सदा श्रीमद्वृन्दावन-वसति-लीला-परिचयो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे ॥२॥

जो बांये हाथ में वंशी, सिर पर मयूरपिच्छ, कटितट में पीताम्बर तथा नेत्रों के प्रान्त में सखाओं के प्रति कटाक्ष धारण कर सदा-सर्वदा निरतिशय शोभाशाली वृन्दावन में निवास करते हैं तथा वहीं विविध लीलाएँ करते हैं, वे मेरे स्वामी जगन्नाथजी मेरे नयन गोचर हों

महाम्भोधेस्तीरे कनकरुचिरे नीलशिखरे
वसन् प्रासादान्तः सहज-बलभद्रेण बलिना।
सुभद्रा-मध्यस्थः-सकल-सुर-सेवावसरदो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे ॥३॥

जो महासागर के तट पर कनक-कान्तिवाले नीलाचल-शिखर पर दिव्यातिदिव्य प्रासाद में अपने अग्रज महाबली श्रीबलदेवजी के साथ बहिन सुभद्रा को बीच में रख कर अवस्थान करते हुए समस्त देव-वृन्दों को अपनी पुनीत सेवा का शुभ अवसर प्रदान करते हैं, वे मेरे स्वामी जगन्नाथजी मेरे नयन-गोचर हों ॥ ३ ॥

कृपा-पारावारः सजल-जलद-श्रेणी-रुचिरो,
रमा-वाणी-रामः स्फुरदमल-पङ्केरुह-मुखः।
सुरेन्द्रैराराध्यः श्रुतिगणशिखा-गीतचरितो,
जगन्नाथः स्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे ॥४॥

जो कृपा के सागर हैं, जिनकी अंगकान्ति सजल मेघों के समान है, जो श्रीलक्ष्मी तथा सरस्वती के साथ विहार करते हैं, जिनका श्रीमुख देदीप्यमान निर्मल कमल की शोभा को धारण करता है, जो समस्त देवताओं के आराध्य-धन हैं, तथा वेद और पुराण-तन्त्रादि शास्त्र समूह जिनके पावन चरित्र का गान करते हैं, वे मेरे स्वामी जगन्नाथजी मेरे नयन गोचर हों ॥ ४ ॥

रथारूढो गच्छन् पथि मिलित-भूदेव-पटलैः
स्तुति-प्रादुर्भावं प्रतिपदमुपाकर्ण्यसदयः।
दयासिन्धुर्बन्धुः सकल जगतां सिन्धु-सदयो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे ॥५॥

जो रथयात्रा के समय मार्गमें एकत्रित हुए भूसुर-वृन्दों के द्वारा किये हुए स्तवन को सुनकर पद-पदपर दया से द्रवित होते रहते हैं, जो करुणावरुणालय हैं, जो निखिल ब्रह्माण्डों के बन्धु हैं एवं जो समुद्र पर कृपा करके उसके तट पर निवास करते हैं, वे मेरे स्वामी जगन्नाथजी मेरे नयन गोचर हों ॥ ५ ॥

परंब्रह्मापीडः कुवलय-दलोत्फुल्ल-नयनो,
निवासी नीलाद्रौ निहित-चरणोऽनन्त-शिरसि।
रसानन्दी राधा-सरस-वपुरालिङ्गन-सुखो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे ॥६॥

जो परम अर्चनीय परब्रह्म हैं, जिनके नेत्र-युगल विकसित कमल-दल के समान उत्फुल्ल हैं, जो नीलाचल पर निवास करते हैं, जो भगवान् अनन्त के मस्तक पर चरण रखे रहते हैं, जो प्रेमानन्दमय हैं एवं जो श्रीराधा के रसमय शरीर के आलिङ्गन के अनुपम सुखमें सुखी हैं वे मेरे स्वामी जगन्नाथजी मेरे नयन पथ के पथिक हों। ॥ ६ ॥

न वै याचे राज्यं न च कनक-माणिक्य विभवं,
न याचेऽहं रम्यां सकल-जन काम्यां वरवधूम्।
सदा काले काले प्रमथ-पतिना गीत-चरितो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे ॥७॥

न तो मैं राज्य की ही याचना करता हूँ और न स्वर्ण एवं माणिक्यादि रत्नों के वैभव की ही प्रार्थना करता हूँ। जिसे सब लोग चाहते हों, ऐसी सुन्दरी एवं श्रेष्ठ रमणी की भी मुझे कामना नहीं है; मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि भूतपति महादेव सर्वदा जिनके निर्मल

हर त्वं संसारं द्रुततरमासारं सुरपते !
हर त्वं पापानां विततिमपरां यादवपते ! ।
अहो दीनेऽनाथे निहित-चरणो निश्चितमिदं
जगन्नाथः स्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे ॥८॥

चरित्रों का गान करते रहते हैं वे मेरे स्वामी जगन्नाथ जी मेरे नयन-पथ के पथिक हों ॥ ७ ॥

हे सुरेश्वर ! शीघ्रातिशीघ्र इस असार-संसार का उद्धार करो; हे यदुनाथ ! जगत से पापों की अमित-राशि को दूर कर दो। जो दीन एवं अनाथों को अपना श्रीचरण अवश्य समर्पण करते हैं, वे ही जगन्नाथजी मेरे नयन-पथ के पथिक हों ॥ ८ ॥

जगन्नाथाष्टकं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः शुचिः ।
सर्व पाप-विशुद्धात्मा विष्णुलोकं स गच्छति ॥९॥

इस पवित्र श्री जगन्नाथाष्टक का जो एकाग्रचित्त एवं पवित्र होकर पाठ करता है उसकी आत्मा समस्त पापों से विमुक्त हो जाती है और वह विष्णुलोक में अर्थात् श्रीवैकुण्ठधाम में गमन करता है।

(श्रीजगन्नाथाष्टक सम्पूर्ण)

श्रीभक्ति मार्ग

अभक्ति-मार्ग का संक्षिप्त परिचय पिछली संख्या के "अभक्ति-मार्ग"-शीर्षक लेख में मैंने दिया है। यहाँ श्रीभक्ति-मार्ग के सम्बन्ध में पाठकवर्ग से कुछ निवेदन कर रहा हूँ।

अप्राकृत इन्द्रिय द्वारा अप्राकृत कृष्ण का अनुशीलन ही भक्ति है। जो अभक्ति का मार्ग नहीं है और जिस पथ में अनुकूल अप्राकृत कृष्ण-सेवा की बातें है, वही शुद्ध भक्ति का पथ है। अनुकूल कृष्ण अनुशीलन कहने से कृष्ण से इतर अभिलाषा नामक प्रतिकूल मायिक विषय भोग को परित्याग कर शुद्ध-जीवों के हरि-सेवन वृत्ति का बोध होता है अर्थात् प्रकृतिसे अतीत अप्राकृत-वस्तु जीव अप्राकृत उपादानसे अप्राकृत-वैकुण्ठ कृष्ण का अप्राकृत अनुशीलन करता है। उस भक्ति में वैकुण्ठेतर जड़ माया की कोई उपयोगिता नहीं होती। नारद-पंचरात्र में कहा गया है कि शुद्ध जीव की अप्राकृत इन्द्रियों द्वारा अप्राकृत इन्द्रियाधिपति कृष्ण के तत्परत्वसहित अर्थात् अनुकूल भाव से सर्वोपधिमुक्त-सेवन या अनुशीलन को भक्ति कहते हैं।

माया और वैकुण्ठ के धर्मों में पार्थक्य

माया का धर्म जीव को भोगों में प्रवृत्त कराना है, किन्तु वैकुण्ठ का धर्म भक्ति है जो जीव को कृष्ण-दास्य में नियुक्त करती है। माया का धर्म—प्राकृत अर्थात् भोगी जीवों का इन्द्रियतृप्तिकर होता है और मायातीत वैकुण्ठ-धर्म—अप्राकृत अर्थात् कृष्णेन्द्रियों का प्रीतिदायक होता है, अथवा कृष्ण के अप्राकृत रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्शादि विषयोंमें शुद्ध जीव की अनुभूति को वैकुण्ठ-धर्म कहते हैं। शुद्ध-जीव का इन्द्रिय-समूह दुराशावश व्यतिरेक भाव से माया के बाह्य विषयों में नियुक्त होने से उसका (जीव का) भोक्ताभिमान प्रबल होता है एवं तभी उसके स्वरूप की विभ्रान्ति होती है। वह नित्य कृष्णदास्य को भूल कर माया के आश्रय में मा'=नहीं या निन्दनीय, या = जो, अर्थात् माया = जो कृष्ण नहीं है अथवा 'मियते अनया' अर्थात् बाह्य-वस्तु का भोक्तृत्व अवलम्बन कर प्राकृत अभिमान में नित्य संसार-भोग का पथ ग्रहण कर अपने भोग्य-विषय—प्रकृत रूप-रसादि का परिमाण (मापतौल) करने में व्यस्त

रहता है। शुद्ध-जीव का इन्द्रिय-समूह जब अनुकूल भाव से कृष्ण-प्रीति के उद्देश्य से कृष्ण की इन्द्रियों की सेवा में नियुक्त होता है तब जीव का अप्राकृत भोग्य अभिमान प्रबल होता है, जिसे भोगीजन निर्बुद्धिता कहकर नितांत घृणा करते हैं, क्योंकि इसमें भोक्ता की स्वार्थपरता का सम्पूर्णरूप से निषेध होता है। अप्राकृत इन्द्रियों द्वारा कृष्ण-सेवा की यह वृत्ति ही जीव के स्वरूप को उपलब्ध कराती है।

नीलकंठीय भक्ति या माया का भजन भक्ति नहीं

दक्षिण भारत के नीलकंठीय-शैव-विशिष्टाद्वैत-वाद की भक्ति और किसी शुद्ध भक्त या रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवाद की भक्ति एक नहीं। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। जहाँ पर शुद्ध जीवानुभूति अपवर्ग लाभ कर वैकुण्ठ वस्तु भगवान को भोक्ता जानने के बदले अपना भोग्य समझती है, उसे दूसरे शब्दों में प्राकृत भोग अथवा अवैष्णव-धर्म कहते है। वहाँ माया के साथ भगवान् योष (नारी) और जीव पुरुष होता है। अवैष्णवों की रुचि के अनुकूल माया को 'कृष्ण' संज्ञा देकर-माया के भजन से ही प्राकृत सहजियां, थियोसफी, बाउलादि धर्मों की उत्पत्ति हुई है, यह वैष्णवों का भक्ति-धर्म नहीं है।

उपास्य तत्त्व में मातृत्व का आरोप भक्ति नहीं

श्रीमन्महाप्रभु ने प्रेम-भक्ति के सिलसिले में जिन दास्यादि रसों का उपदेश दिया है उनमें अवैष्णवों के उपास्य मातृत्व का आरोप कृष्ण में कहीं भी नहीं किया गया है, क्योंकि वैसी स्थिति भक्ति-धर्म का प्रतिकूल विषय है। मायावादी मौखिकरूप से गौर-भक्त बनकर श्रीकृष्ण में मातृत्व या कृष्ण के साथ माया की एकता का आरोप कर भक्ति-धर्म का पथ भूल बैठते हैं।

प्राकृत सहजिया:—(१) प्राकृत पुरुष-देह में योषित्-कल्पना

प्राकृत सहजिया (Anthropormorphists) कृष्णलीला का अनुकरणकर अपनी प्राकृत भोगमय इंद्रिय-सुखकर प्रवृत्ति को ही भक्ति समझते हैं। प्राकृत सहजिया दो प्रकार के होते हैं। जो प्राकृत इन्द्रिय तृप्ति परायण होकर कर्मफल के अनुसार प्राकृत पुरुष-शरीर धारण करके भी अपने को योषित् (नारी) कल्पना कर स्थूल भोगों में आसक्त हैं एवं योषित् गुरु पर कृष्ण होने का आरोप कर अपने को भावमार्ग में अवस्थित समझते हैं तथा प्राकृत जड़ संभोग को हरिलीला का प्रकार भेद समझते हैं वे एक प्रकार के सहजिया हैं।

प्राकृत सहजिया:—(२) स्त्रैण गृहव्रत धर्मद्वारा कृष्ण प्रेम लाभ

दूसरे प्रकार के सहजिया सम्प्रदाय का कहना है कि भोग्या स्त्री मात्र ही अप्राकृत हैं और भोक्ता पुरुष मात्र ही अप्राकृत हैं। स्त्रैणभाव का पोषण करते हुए गृहव्रत धर्म का पालन करने से ही पुरुषों का प्राकृतत्व कम होते-होते क्रमशः कृष्ण-प्रेम उदित होता है। इनके मत में परमहंस वैष्णव गृहव्रत नहीं होने के कारण वैधी साधन-भक्त-श्रेणी के निम्नस्थ अधिकारी हैं तथा इन साधकों को कृष्ण-प्रेम की उपलब्धि नहीं होती। पवित्र हरि-सेवा-रत गृहस्थ वैष्णवों को ये लोग अपनी तरह गृहव्रत समझते हैं। स्त्रैण न होकर गृहस्थ शुद्ध वैष्णवगण हरिभजन कैसे कर सकते हैं—वे इसे समझना नहीं चाहते। वे कृष्ण के संसार के समस्त अर्थों को केवल अपनी बहिर्मुखी विषय-प्रवृत्ति चरितार्थ करने के उद्देश्य से व्यय करते हैं तथा स्त्री-पुत्रादि की माया-ममता में आत्म-बलिदान किया करते हैं।

गृहस्थ वैष्णवों का वैराग्य और स्त्रैण विषयीका संभोग रस एक नहीं

भड़ठाकुर या श्रीवासादि की शुद्ध-भक्ति, रामानन्दराय का सुतीव्र वैराग्य, श्रीमन्महाप्रभु के भक्तों का कृष्णेतर विषयों से वैराग्य-प्रधान भाव और महाप्रभु के संन्यासका कारण समझने में अक्षम होकर ये अपने गृहव्रतधर्मके पालन और निजर इंद्रिय तर्पण करने में ही आनन्द लाभ करते हैं। हरिभक्ति

के नाम पर इंद्रिय-तर्पण (विषय-भोग) करने में खूब आनन्द लूटते हैं। स्त्रैण-विषयी लोग स्वजाति, स्वदेश और स्वदल में रह कर रसगान सुनकर भक्ति को पार्थिव माटिया (Material idea) अथवा प्राकृत समझ कर शुद्ध गृहस्थ वैष्णवों के चरणों में अपराधी होते हैं। श्रील भक्तिविनोद आनंदसे गद्गद होकर 'मनिर्न कृष्णे' श्लोक त्रय द्वारा इन विचारों को खूब ही सुन्दररूप से विश्लेषण कर समझाते थे। अपने सुख के लिए संभोग-रस के उदय होने पर तादृश आनन्द के प्रति भक्तों का महाक्रोध होता है। श्रीचैतन्य चरितामृत आदि लीला चतुर्थ परिच्छेद के २०१ संख्यक पयार में कहा गया है—

निज प्रेमानन्दे कृष्ण सेवानन्द बाधे।
से आनन्देर प्रति भक्तेर हय महाक्रोधे ॥

(कृष्ण-सेवानन्द में बाधा प्रदान करनेवाले निजानन्द के प्रति भक्तों का महाक्रोध उत्पन्न होता है।)

अङ्गस्तम्भारम्भपुत्तुल्ययन्तं-
प्रेमानन्द दारुको नाभ्यनन्दत् ॥
कंसारातेर्वीजने येन साक्षादक्षो-
*दीयानन्तरायो व्यधायि ॥ **

(भक्ति रसामृत सिन्धु, पू० वि:—
२ तीय लहरी २३ श्लोक)

आर शुद्ध भक्त कृष्ण प्रेम-सेवा विने।
स्वसुखार्थ सालोक्यादि ना करे ग्रहणे ॥
(चै० च० आ० ४-२०४)

(शुद्ध भक्त कृष्ण-प्रेम सेवा को परित्याग कर आत्म-सुख के लिए सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति भगवान् के द्वारा दिये जाने पर भी ग्रहण नहीं करता।)

आत्यन्तिक भक्तियोग

श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध में कहा गया है कि श्रीकपिलदेव अपनी माता से बोले कि जिनके हृदय में अहैतुकी और विघ्नरहित कृष्ण-भक्ति उदित हुई है, उन्हें मेरे साथ समलोक, समरूप, समैश्वर्य और मेरा सामीप्य लाभ-इन चार प्रकार की मुक्ति-संभोग देने पर भी वे उसे ग्रहण नहीं करते। वे केवल मेरी सेवा प्रार्थना करते हैं। यही आत्यन्तिक भक्ति योग है।

रागानुगा भक्ति का साधन और परिचय

भक्ति-रस की पराकाष्ठा गोपी-प्रेम में है। यह प्राकृत और कामगंधहीन होता है। चरितामृत की कतिपय कविताएँ इस विषय में रागानुगीय भक्ति-साधकों के निदर्शन स्वरूप हैं। इस अपूर्व भाव-समूह से पराङ्मुख होकर कोई भी रागानुगा-साधक अपना कल्याण प्राप्त नहीं कर सकता। स्त्री-पुरुषगत प्राकृत-रस के विप्रलंभ में (विरह में) दुख-कष्ट का अनुभव कर इसकी हेयता को अप्राकृत विप्रलंभ में आरोप कर उससे बचनेके लिये कोई संभोग-रसका आवाहन न कर बैठे, इसीलिए श्रील भक्तिविनोदजी ने अपने आश्रितजनों को खूब ही सावधान किया है। जो उनके उपदेश का उलंघन कर अन्य पथ के पथिक हुए हैं, उनके प्रति हमारा कुछ भी वक्तव्य नहीं है। श्रीचैतन्य चरितामृत की कुछ पयारें इस प्रकार हैं—

आत्म-सुख-दुखे गोपीर नाहिक विचार।
कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहार ॥१॥
(आ० ४। १५४)

कामेर तात्पर्य—निज संभोग केवल।
कृष्ण सुखतात्पर्य-मात्र प्रेम त' प्रबल ॥२॥
(आ० ४। १६६)

आत्मेन्द्रिय-प्रीतिवांछा तारे बलि काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम ॥३॥
(आ० ४। १६५)

सर्वत्याग करि' करे कृष्णेर भजन।
कृष्ण-सुख-हेतु करे प्रेम-सेवन ॥४॥
(आ० ४ १६९)

अतएव काम-प्रेमे बहुत अन्तर।
काम—अंधतमः, प्रेम-निर्मल भास्कर ॥५॥

* अर्थात् श्रीकृष्ण को चँवर व्यजन करने के समय प्रेमानन्द से उत्पन्न अपने देह की जड़ता को कृष्ण सेवामें विघ्न समझकर दारुक ने उसका अभिनन्दन न किया अर्थात् वे बड़े दुःखी हुए।

अतएव गोपीगनेर नाहि कामगंध ।
कृष्ण-सुख लागि मात्र, कृष्ण से सम्बन्ध ॥६॥
(आ० ४ । १७१-१७२)

ए देह - दर्शन - स्पर्शे कृष्ण - संतोषन ।
एई लागि करे अंगेर मार्ज्जन-भूषन ॥७॥
(आ० ४ । १८३)

गोपीगन करेन यबे कृष्ण दरशन ।
सुखबांछा नाहि, सुख हय कोटि गुन ॥८॥
(आ० ४ । १८६)

तां' सबार नाहि निज सुख - अनुरोध ।
तथापि बाड़ये सुख, पड़िल - विरोध ॥९॥
(आ० ४ । १८८)

आमार दर्शने कृष्ण पाइल एत सुख ।
एई सुखे गोपीर प्रफुल्ल अंग-मुख ॥१०॥
(आ० ४ । १९१)

अतएव सेई सुख कृष्ण-सुख पोषे ।
एई हेतु गोपी-प्रेम नाहि काम-दोषे ॥११॥
(आ० । १९५)

प्रीतिविषयानन्दे तदाश्रयानन्द ।
ताँहा नाहि निज-सुख-बांछार सम्बन्ध ॥१२॥
(आ० ४ । १९९)

सखीर स्वभाव एक अकथ्य कथन ।
कृष्णसह निज-लीलाय नाहि सखीर मन ॥१३॥
(म० ८ । २१५)

सहज गोपीर प्रेम, नहे प्राकृत-काम ।
कामक्रीड़ा-साम्ये तार नाहि काम-नाम ॥१४॥
(म० ८ । २१५)

निजेन्द्रिय-सुखहेतु कामेर तात्पर्य ।
कृष्ण-सुख-तात्पर्य गोपीभाव-वर्य ॥१५॥

निजेन्द्रिय-सुखबांछा नाहि गोपीकार ।
कृष्णे सुख दिते करे सङ्गम-विहार ॥१६॥

सेई गोपी भावामृते याँर लोभ हय ।
वेदधर्म त्यजि' से कृष्ण के भजय ॥१७॥

रागानुगमार्गे ताँरे भजे जेई जन ।
सेई जन पाय व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन ॥१८॥
(म० ८ । २१७-२१८, २१०-२११)

ना गनि आपन-दुःख, सबे बांछि तार सुख,
ताँर सुख-आमार तात्पर्य ।
मोरे यदि दिया सुख, ताँर हैल महासुख
सेई दुःख-मोर सुख वर्य ॥१९॥ (अ० २० । ५२)

निज-सुखे माने लाभ, पड़ुक तार शिरे बाज,
कृष्णेर मात्र चाहये संतोष ॥२०॥
(अ० २० । ५५)

अर्थात्—गोपियों को आत्म-सुख-दुःख की तनिक भी स्पृहा नहीं रहती; उनके सभी व्यवहार केवल कृष्ण को सुखी करने के लिए होते हैं ॥१॥ काम का तात्पर्य केवल आत्म-संभोग के लिए होता है; किन्तु प्रेम में तो कृष्ण सुख की अभिलाषा ही प्रबल होती है ॥२॥ अपने सुख-संभोग की वाञ्छा का नाम काम है और कृष्ण सुख की अभिलाषा को प्रेम कहते हैं, अथवा मैं कृष्णदास हूं इस बुद्धि के अनुगत होकर जो सकल वाञ्छाएँ होती हैं उसे प्रेम तथा मैं फल भोक्ता हूँ इस बुद्धि से चालित होकर जिन वांछाओं का उद्गम होता है, उसे काम कहते हैं ॥३॥ भोक्ता अपना सर्वस्व त्यागकर कृष्ण का भजन करता है; वह कृष्ण की प्रेम-सेवा करता है—केवल कृष्ण के सुख के लिये ही ॥४॥ अतएव काम और प्रेम में बहुत ही अन्तर है। काम—घोर अंधकार स्वरूप है तथा प्रेम—निर्मल भास्कर स्वरूप है ॥५॥ अतएव गोपियों में काम का गंध तक नहीं। उनका कृष्ण के साथ सम्बन्ध तो केवल कृष्ण को सुख देने के निमित्त होता है ॥६॥ हमारे देह के दर्शन और स्पर्शन से कृष्ण को आनंद होता है—ऐसा जानकर गोपियाँ अपने अंगों का मार्जन और शृंगार करती हैं ॥७॥ गोपियों के कृष्ण दर्शन में आत्म-सुख की वांछा नहीं रहती तथापि गोपियों के दर्शन से कृष्ण को जितना सुख प्राप्त होता है, उस सुख से कोटिगुण सुख होता है गोपियों को—कृष्ण दर्शन से ॥८॥ उन्हें अपने सुख

* यहाँ सर्वस्व त्याग द्वारा दैहिक और मानसिक कार्यों के त्याग के लिये परामर्श नहीं दिया गया है, ये सभी कार्य यदि अपने को कृष्णदास समझकर कृष्ण-सुख के लिए किये जाँय तो ये काम नहीं बल्कि भक्ति कहलाते हैं।

की अभिलाषा नहीं रहती, फिर भी उनका सुख उत्तरोत्तर उज्ज्वल होकर बढ़ता जाता है। कहाँ गोपियाँ आयीं थीं कृष्ण को सुख देने—यहाँ तो इनका ही सुख कोटिगुन अधिक बढ़ गया, अतः यहाँ विरोध उपस्थित हो जाता है ॥९॥ संशय यह होता है कि गोपियों को भी जब कृष्ण-दर्शन से सुख होता है तब गोपी-प्रेम को भी 'काम' क्यों न कहा जाय? यहाँ ग्रन्थकार इस संशय का छेदन करते हुए कहते हैं कि यहाँ ऐसे संशय की सम्भावना नहीं, क्योंकि उनके अंगों के दर्शन से कृष्ण को इतना आनन्द हुआ है—इससे मन ही मन सुख अनुभव कर उनका वदन-कमल आनन्द से विकसित हो जाता है। यहाँ गोपियों के मन का भाव ऐसा होता है—"हमें आनन्दित देखकर कृष्ण अधिक सुखी होते हैं, सुतरां हमें अधिकतर प्रफुल्ल रहना चाहिये।" अतः गोपी-सुख कृष्ण-सुख का पोषक है। अतएव गोपी-प्रेम में आत्म-सुख-वांछा-रूप काम दोष नहीं है ॥१०-११॥ प्रीति के विषय कृष्ण हैं; उनका आनन्द ही उनकी प्रीति के आश्रय गोपियों का आनन्द है। इस प्रकार आनन्द समृद्धि में गोपियों का आत्म-सुख की वांछा से सम्बन्ध नहीं है ॥१२॥ सखियों की एक अकथनीय बात यह है कि उनको कृष्ण के साथ स्वयं लीला करने में आनन्द नहीं आता—उन्हें तो श्रीकृष्ण के साथ श्रीमती राधा की लीला कराकर ही अपूर्व सुख प्राप्त होता है ॥१३॥ गोपियों का प्रेम सहज अर्थात् स्वाभाविक होता है। उनका प्रेम प्राकृत काम नहीं है। उसमें काम-क्रीड़ा का कुछ साम्य रहने के कारण उसका नाम काम भी है ॥१४॥ अपने सुख की अभिलाषा ही काम का तात्पर्य होता है, पर गोपी भाव में केवल कृष्ण-सुख की ही अभिलाषा होती है। अतः गोपी-भाव ही श्रेष्ठ है ॥१५॥ गोपियों में अपने सुख की अभिलाषा नहीं होती। उनका कृष्ण के साथ मिलन और विहार तो कृष्ण के सुख के लिए ही होता है ॥१६॥ गोपियों का कृष्ण के प्रति जो स्वाभाविक राग (प्रेम-भाव) होता है उस गोपी-भावामृत के लिए जिसे लोभ होता है, वह वेद धर्म (वैधी-भक्ति) को त्याग कर रागानुगा-मार्ग से कृष्ण का भजन कर व्रज में व्रजेन्द्रनन्दन को प्राप्त करता है ॥१७-१८॥

गोपियाँ अपने सुख-दुःख की गणना नहीं करती, उन्हें कृष्णसुख की कामना के अतिरिक्त अपने लिए स्वतन्त्र सुख की कामना नहीं होती। एक गोपी कहती है—"मैं अपने दुखों का विचार नहीं करती। मैं तो सर्वदा उनके ही सुखों की अभिलाषा करती हूं—उनका सुख ही मुझे एकमात्र इष्ट है। यदि मुझे दुख देने से उन्हें महासुख हो, तो वही दुख मेरे लिए सर्वश्रेष्ठ सुख है ॥१९॥ जो निज सुख में ही अपने को कृतार्थ समझता है उनके सिर पर वज्रपात हो अर्थात् उसका सर्वनाश हो—वह तो प्राकृत संभोग परायण सहजिया अभक्त हो पड़ता है। मुझे तो एकमात्र कृष्ण को आनन्द हो—यही चाहिए" ॥२०॥

(क्रमशः)

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

विशुद्ध साम्प्रदायिकता ही आर्य-धर्म का गौरव है

सम्प्रदाय की परिभाषा और उसकी उत्पत्ति

साम्प्रदायिकता की निन्दा करना ही आर्य-शास्त्रों की निन्दा है। आर्य-शास्त्र जीवमात्र के लिये मंगल प्रद हैं। वे अन्यान्य असम्पूर्ण धर्म-शास्त्रों की तरह संकीर्ण मत के प्रचारक नहीं हैं। जीवमात्र एक ही अधिकारमें अवस्थित है, ऐसा कहने से केवल विज्ञान और इतिहास ही सन्तुष्ट हो सकते हैं। वस्तुतः समस्त जीव भिन्न-भिन्न अधिकार प्राप्त भिन्न-भिन्न स्तरों में अवस्थित हैं। जिनमें से कुछ जीवों का किसी मूल विषय में अधिकारों का ऐक्य है, उनकी एक सम्प्रदाय है। उनके लिये शास्त्र जो उपदेश प्रदान करते हैं, वह उपदेश अन्य अधिकारगत सम्प्रदाय

के लिये स्वीकार करने योग्य नहीं होता। इसी अधिकार के विचारक्रम से ही कर्मी, ज्ञानी तथा भक्तों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय हैं। भक्तों में भी अधिकार के भेद से पृथक-पृथक सम्प्रदाय हैं। सम्प्रदायों की व्यवस्था ही आर्य-शास्त्रों और आर्य-आचार्यों के लिये प्रधान गौरव का विषय है। एक ही विद्यालय के अन्तर्गत जिस प्रकार दश या बारह श्रेणियाँ होती हैं, आर्य-जाति के परमार्थ विद्यालय में उसी प्रकार कतिपय सम्प्रदायों की व्यवस्था की गई है। सम्प्रदायों के पृथक-पृथक रहने से इस आर्य महाविद्यालय की एकता नष्ट हो जाती हो, ऐसी बात नहीं।

अँग्रेजी 'सेक्टेरियन' तथा शास्त्रीय 'साम्प्रदायिकता' शब्द एक नहीं, जीवों का अधिकार-विचार ही शुद्ध साम्प्रदायिकता है

पाश्चात्य विचार-शास्त्र में जो 'Sectarian' शब्द व्यवहृत होता है, उसका अर्थ दूसरे प्रकार का है। साम्प्रदायिक-धर्म अनान्य धर्मों को एक विद्यालय की भिन्न-भिन्न श्रेणियों की तरह मानता है। 'साम्प्रदायिक' शब्द का अर्थ विकृत कर जो सम्प्रदाय प्रणाली की निन्दा करते हैं, वे शास्त्रों के विषय में नितान्त अनभिज्ञ हैं। एक सम्प्रदाय का व्यक्ति दूसरे सम्प्रदाय का प्रवेशाधिकार लाभ करने से उस सम्प्रदाय में प्रवेश कर सकता है। इस प्रकार एक सम्प्रदाय से दूसरे सम्प्रदाय में गमन करते-करते जीव अनेक जन्मों में सर्वोच्च सम्प्रदाय को प्राप्त कर चरितार्थ हो जाता है। "अनेक-जन्म संसिद्धस्ततो याति परांगतिमिति" भगवान् का यह वचन अतिशय स्पष्ट है। अधिकार लाभ करने से तदुचित सम्प्रदाय लाभ किया जा सकता है, किन्तु अधिकार का विचार किये बिना ही यदि किसी सम्प्रदाय को ग्रहण किया जाय तो अधोपतन अवश्यम्भावी है। जिस अधिकार में जो उपदेश है, वही उपदेश उस अधिकार का मत है तथा वही मत उस अधिकार-निर्दिष्ट सम्प्रदाय का मत है। यदि कोई भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के मत को एक अधिकार में सन्निवेशित करना चाहता है तो उसका एक मिश्र-मत हो जाता है—विशुद्ध मत नहीं।

असाम्प्रदायिक-मत अनार्यमत है एवं अधिकार के अनुसार शैव-शाक्तादि सम्प्रदाय भेद जीवों के लिये मङ्गलजनक है।

गुरुपम्परा-प्राप्त अधिकार-सिद्ध उपदेश को हमारे आर्य ऋषियों ने साम्प्रदायिक-मत निर्दिष्ट किया है। असाम्प्रदायिक-मत ही अनार्यमत है। "सम्प्रदाय विहीनाः ये मंत्रास्ते निरफला मताः" इत्यादि ऋषि वाक्यों के द्वारा हम जानते हैं कि सम्प्रदाय प्रणाली की निन्दा करने वाले व्यक्ति नितान्त अनार्य और शिष्टाचार शून्य हैं। उपासना-काण्ड में शैव, शाक्त तथा गानपत्य प्रभृति जितने सम्प्रदाय हैं, ये सभी देवदेव महादेव के वाक्य अथवा पूज्यपाद ऋषियों के वचनों के द्वारा भिन्न-भिन्न अधिकार-प्राप्त जीवों के मंगल साधन के लिये निर्दिष्ट हुए हैं। उपास्य वस्तु मूलतः एक है, उसमें भेद नहीं। केवल उपासकों के अधिकार भेद से उपास्य-वस्तु का पार्थक्य सिद्ध हुआ है।

अधिकार-निष्ठा जीव को उन्नत करती है।

आपने अपने उपास्य-वस्तु में विशेष निष्ठा का होना प्रसस्त होता है। वे उपास्य-वस्तु ही क्रमशः कृपा कर उच्चाधिकार दे देकर उस उस अधिकार के उपयोगी मूर्ति से प्रकाशित होते हैं। इसीलिये ऋषियों ने सर्वत्र अधिकार निष्ठा को प्रबल रखने के लिए उस-उस अधिकार के उपयुक्त मत को सर्वोच्च कहते गये हैं। शाक्त लोग जब विशुद्ध होते हैं, तब वे वामाचार के निर्माल्यादि का सेवन नहीं कर सकते, तब वे जप यज्ञादि द्वारा श्यामा की पूजा करने लगते हैं। उसी प्रकार जो वैष्णवाधिकार लाभ करते हैं, उन्हें भगवत् निर्माल्य के सिवा अन्य निर्माल्य पाने का अधिकार नहीं रहता।

निर्गुण-निर्माल्य व्यतीत देव देवियों के सात्त्विकादि गौण-निर्माल्य वैष्णवों के लिये आग्राह्य हैं।

"सात्त्विकभाव से पूजा होने से वैष्णव लोग अन्य देवताओं का निर्माल्य ग्रहण करसकते हैं" यह वाक्य निर्दोष नहीं है। वैष्णवों की उपासना निर्गुण होती है। वे सात्त्विक पूजा के निर्माल्य ग्रहण करने के अधिकारी नहीं। वे तो निर्गुण पूजा के निर्माल्य ग्रहण करने के ही अधिकारी हैं।

विष्णु के प्रसाद-नैवेद्य द्वारा देव देवियों की पूजा, गौण नहीं।

श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र में भगवत्-प्रसाद श्रीविमला देवी को अर्पण किया जाता है। वही प्रसाद समस्त वैष्णवों के लिये ग्राह्य है। 'विष्णो निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवातान्तरमिति'-ऋषि-वाक्य द्वारा वैष्णवों के विष्णु नैवेद्य द्वारा अन्य देवताओं तथा पितृ-पुरुषों की पूजा का विधान दिया गया है। ये सभी बातें साधारण के विचार का विषय नहीं। अधिकार-प्राप्त व्यक्ति अपने अपने गुरुदेव के निकट इसकी विधि और तात्पर्य समझेगें।

विभिन्न संघ, सभा, समिति प्रभृति सभी साम्प्रदायिक हैं, उनकी स्व-स्व निष्ठा ही मंगल-जनक है।

हरि सभाओं के प्रति हमारा विद्वेष नहीं। प्रत्युत् उनका नाम सुनते ही श्रद्धा करते हैं। हरि सभाएँ नष्ट हो जाँय—हमारी कामनाएँ नहीं। बल्कि भगवान् के चरण-कमलों में प्रार्थना करते हैं कि ये सभी सभा-समितियाँ सत्वर ही विशुद्ध हरिभक्ति स्वयं आस्वादन करें और उसका बहुल प्रचार करें। अनार्य-सभा का अनुकरण कर अधिकार-तत्व के विरुद्ध-मत का प्रचार न करें। "हरि भक्ति दायिनी" "हरि भक्तिप्रचारिणी" प्रभृति नाम ग्रहण कर विशुद्ध हरिभक्ति का आनुकूल्य विधान करना ही प्रयोजन है। वे अनान्य अधिकार के मत-सिद्ध-कार्यों का अनुष्ठान न करें-हमारी उनसे यही प्रार्थना है। अन्यान्य अधिकारों की आर्य सन्तानें हृष्टचित्त से समवेत हो कर आर्य-धर्म-रक्षिणी, शिव-सभा, काली-सभा, गणपति-सभा तथा कर्माधिकार के अनुसार याज्ञिक-सभा और ज्ञानाधिकार से अनुसार अध्यात्म्य-सभा, ब्रह्म-सभादि स्थापन द्वारा अपनी अपनी अधिकार निष्ठा को समृद्ध करें। इस से हम विपुल आनन्द लाभ करेंगे।

हरि सभा का एकान्त कर्त्तव्य।

हरिसभा के सदस्यवर्ग विमल हरिभक्ति का आस्वादन करें और उसका प्रचार करें। इसके सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना ही बाहुल्य होगा। हमारा परामर्श यह है कि हरिसभा के सदस्यवर्ग उपयुक्त वैष्णव गुरुओं के निकट विशुद्ध हरिभक्ति शिक्षा कर उसे आस्वादन करें। पहले स्वयं शिक्षा न ग्रहण कर दूसरों को शिक्षा देना विधि नहीं। यदि विशुद्ध हरिभक्ति प्रचार करना उहें अभिप्रेत न हो, तो सभा-समितियों का नाम परित्याग पूर्वक 'आर्य-सभा' नाम ग्रहण करें, नहीं तो मांस की दुकान में शाक और शाक की दुकान में मांस विक्रय करने से जिस प्रकार व्यवहार में साङ्कर्य उपस्थित होता है उसी प्रकार उनकी भी अवस्था होती रहेगी। शाक की दुकान में मांस देख कर ब्रह्मचारी यतिगण जिस प्रकार कष्ट का अनुभव करते हैं, तद्रुप विशुद्ध हरिभक्ति हरिसभा में उपस्थित होकर मनुसंहिता पाठ, होम, याग, आध्यात्म्य रामायण-व्याख्या, बाउल गान, हारमोनियम वाद्य तथा उज्ज्वल-नीलमणि प्रभृति रस-ग्रन्थ सर्व-साधारण के निकट पाठादि अधिकार-साङ्कर्य देख कर हतज्ञान हो पड़ते हैं। जिन हरिसभाओं में इस प्रकार साङ्कर्य नहीं, वहाँ मिश्रमत नहीं और उन की कोई निन्दा भी नहीं करता। वे तो हमारी ही सभाएँ हैं। उनका नाम 'वैष्णव-सभा' ही होना चाहिये। जिन सभाओं में अधिकार-विचार-शून्य मिश्र-मत है—वे सभाएँ हास्यास्पद होंगी, इसमें संदेह क्या है?

—*श्रील ठाकुर भक्तिविनोद*

मायावाद की जीवनी

(पूर्व प्रकाशित वर्ष १, संख्या १, १३ पृष्ठ से आगे)

मायावाद के सम्बन्ध में व्यास की उक्तियाँ

वेद विभाग करने के समय भेद सूचक वाक्यों का सर्वतोमुखी विविध प्रमाण लक्ष्य करते हुए भी बादरायण ऋषि ने किञ्चित् परिमाण में अभेद का भी इंगित पाया था। वेदों के ऐसे अभेद इंगितों के द्वारा मायावाद की सृष्टि हो सकती है, उन्होंने इस का कुछ २ अनुमान लगाया था—ऐसा प्रतीत होता है। त्रिकालज्ञ आचार्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार कुछ अस्वाभाविक नहीं। अद्वैतभाव वेदों का असम्पूर्ण एकदेशीय व्यापार है। वस्तु के पूर्णत्व का विचार न कर आंशिक विचार करने से उसे सत्-विचार स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्युत् आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य के रूप में स्थापना करने की चेष्टा को असत् चेष्टा या वञ्चना कहते हैं। कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास ने मायावाद को अपने रचित पुराणों में ही असत् और अवैदिक होने की घोषणा की है—

"मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।"

(पद्मपुराण उ० ख० २५ अ०, ७ श्लोक)

पद्मपुराण के विभिन्न स्थलों में, कूर्मपुराण के पूर्वभाग में तथा अन्यान्य दूसरे दूसरे पुराणों में मायावाद के भावी आविर्भाव की उक्तियाँ देखी जाती हैं। उन्होंने पद्मपुराण में मायावाद को एक अवैदिक मत कहा है। वैदिक युग में अर्थात् वेदों में मायावाद का स्थान नहीं, यह मैंने पहले ही निवेदन किया है। इसके सम्बन्ध में पद्मपुराण की स्पष्ट उक्ति है—

वेदार्थवन्हाशास्त्रं मायावादमवैदिकम्।
मयैव कथितं देवि! जगतां नाश-कारणात्॥

श्रील ठाकुर भक्तिविनोद अपने 'जैवधर्म' नामक ग्रन्थ में मायावाद के सम्बन्ध में लिखते हैं—

'असुरगण भक्तिपथ ग्रहण करते हुए दुष्ट उद्देश्य सफल करने की चेष्टा करने लगे। ऐसा देख सरल-हृदय जीवों के प्रति भक्त-वात्सल्य-प्रयुक्त, करुणामय भगवान् ने ऐसा उपाय सोचा कि ये असुरगण किसी प्रकार भक्ति-पथ को भ्रष्ट न कर सकें। उन्होंने श्रीमहादेव को बुलाकर कहा—"हे शम्भो! तामस-प्रवृत्तिवाले असुरों के निकट शुद्ध-भक्ति-प्रचार करने से जैवजगत का मंगल न होगा। तुम असुरों को मोहित करने के लिये एक ऐसे शास्त्र का प्रचार करो, जिसमें मुझे गोपन कर मायावाद प्रकाशित हो, जिसमें आसुरिक चिन्ता-मग्न जीवगण शुद्ध-भक्तिपथ परित्याग कर उस मायावाद का आश्रय करें और हमारे सहृदय भक्तगण निःसंशय होकर शुद्ध भक्ति का आस्वादन कर सकें।" भगवान् विष्णु रुद्र से कह रहे हैं—

स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च जनान्मद्विमुखान् कुरु।
मां च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा॥

(पद्मपुराण उ० ख० ४२-११०)

एष मोहं सृजाम्याशु यो जनान् मोहयिष्यति
तञ्च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय॥
अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज।
प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशञ्च मां कुरु॥

(वराहपुराण)

[अर्थात् हे शम्भो! तुम कलियुग में मनुष्य आदि जीवों के बीच अंशरूप से अवतीर्ण होकर कल्पित अर्थात् मिथ्या-निर्मित अपने तंत्रादि द्वारा मनुष्यों को मुझ से बहिर्मुख करो; उन कल्पित-शास्त्रों में मेरे नित्य-भगवत् स्वरूप का विषय गुप्त रखो। इससे जगत की बहिर्मुख सृष्टि उत्तरोत्तर परिवर्द्धित होती रहेगी।]

मैं इस तरह की मोहसृष्टि कर रहा हूं, जो जन-समुदाय को मोहित करेगी। हे महाबाहो रुद्र! तुम भी मोहशास्त्र का प्रणयन करो; हे महाभुज! अन्याय और भगवत्-स्वरूप-प्रकाश का विरोधी मायिक-युक्तिजाल प्रदर्शन करो; अपने रुद्ररूप (आत्मविनाश रूप संहार-मूर्त्ति का प्रकाश करो तथा मेरे नित्य भगवत्स्वरूप को आच्छादित करो।]

(ठाकुर भक्तिविनोदकृत "जैवधर्म"
१८ अध्याय)

विज्ञान भिक्षुक का मत

शंकर-सम्प्रदाय के कतिपय विद्वानों का विचार है कि पद्मपुराण में इस प्रकार के उक्ति-समूह वैष्णवों के द्वारा ईर्षामूल से प्रक्षिप्त किये गये हैं। किन्तु सांख्य-योगी या समन्वयवादी विज्ञानभिक्षु ने 'सांख्यप्रवचन भाष्य' की भूमिका में पद्मपुराण के इस वचन को उद्धृत किया है। पाठकवर्ग की अवगति के लिये उसे उद्धृत किया जा रहा है—

"अस्तु वा पापिनां ज्ञानप्रतिबन्धार्थमास्तिक-दर्शनेष्वप्यंशतः श्रुतिविरुद्धार्थव्यवस्थापनम्। तेषु तेष्वंशेष्वप्रामाण्यं च श्रुतिस्मृत्यविरुद्धेषु तु मुख्य-विषयेषु प्रामाण्यमस्त्येव। अतएव पद्मपुराणे ब्रह्म-योगदर्शनातिरिक्तानां दर्शनानां निन्दाप्युपपद्यते। यथा तत्र पार्व्वती प्रतीश्वरवाक्यम—

शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम्।
येषां श्रवणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि ॥
प्रथमं हि मयैवोक्तं शैवं पाशुपतादिकम्।
मच्छक्त्यावेशितैर्विप्रैः संप्रोक्तानि ततः परम् ॥
कणादेन तु संप्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।
गौतमेन तथा न्यायं सांख्यन्तु कपिलेन वै ॥
द्विजन्मना जैमिनिना पूर्व्वं वेदमयार्थतः।
निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम् ॥
धिषणेन तथा प्रोक्तं चार्व्वाकमतिगर्हितम्।
दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा ॥
बौद्धशास्त्रमसत् प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम्।
मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च ॥
मयैव कथितं देवि ! कलौब्राह्मण रूपिणा।
अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयल्लोकगर्हितम् ॥
कर्म स्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते।
सर्व्वकर्म परिभ्रंशान्नैष्कर्म्म्यं तत्र चोच्यते ॥
परात्म जीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते।
ब्रह्मणोऽस्य परं रूप निर्गुणं दर्शितं मया ॥
सर्व्वस्य जगतोऽप्यस्य नाशनार्थं कलौयुगे।
वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम्।
मयैव कथितं देवि। जगतां नाशकारणात् ॥

इति—अधिकं तु ब्रह्ममीमांसाभाष्ये प्रपञ्चित-मस्माभिरिति।

(सांख्यदर्शनम्-विज्ञान भिक्षु-विरचित भाष्य—श्रीजीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य कर्त्तृक १२९३ बं. साल में प्रकाशित, द्वितीय संस्करण, भूमिका—५।६ पृष्ठ)

समस्त दर्शनों का सामंजस्य स्थापन करना ही विज्ञान-भिक्षु का उद्देश्य था। उन्हें आचार्य शंकर से ईर्षा न थी, वरन् निरपेक्ष भाव से उनके गुण और दोष दोनों की ही आलोचना उन्होंने की है। वास्तवदर्शी महाजनगण सत्य को सत्य एवं मिथ्या को मिथ्या ही जानते हैं। सत्य को मिथ्या या मिथ्या को सत्य नहीं जानते। किसी काल्पनिक मत का दोष दिग्दर्शन करना ही यदि ईर्षामूलक व्यवहार कहा जाय तो आचार्य शंकर भी इस दोष से मुक्त न थे। उन्होंने शाक्यसिंह बुद्ध को पागल की आख्या देते हुए भी त्रुटि न की। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहा है—"सुगत बुद्ध असम्बद्ध प्रला-पोक्ति अर्थात् मतिच्छन्न की तरह प्रलाप किया है", उक्त भाष्य नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

"बाह्यार्थ-विज्ञान-शून्यवादत्रयमितरेतर-वि-रुद्धमुपदिशता 'सुगतेन' स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्ध प्रलापित्वं।"

(ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य—२।१।३२)

सुगत के प्रति शङ्कराचार्य के ऐसे श्लेषयुक्त वचनों को देखकर कोई ऐसा न समझे कि शंकर बौद्ध मत के विद्वेषी थे। सुगत बुद्ध के विज्ञानात्म-वाद तथा बाह्यात्मवाद का खण्डन करने के लिये उन्होंने जिस बड़े समारोह के साथ युक्तियों तथा तर्कों की अवतारणा की है, शून्यवाद के खण्डन में उनकी वैसी चेष्टाएँ नहीं देखी जातीं। शङ्कर की श्रद्धा भीतर ही भीतर बुद्ध तथा उनके शून्यवाद के प्रति प्रभूत परिमाण में थी—इसका निदर्शन पीछे किया जायगा। व्यासदेव की इन उक्तियों से विदित होता है कि आचार्य शंकर प्रच्छन्न बौद्ध थे। बुद्ध के वेद-विरुद्ध मतवाद को उन्होंने वेद के सांचे में ढाल कर इस जगत में प्रचुररूप से प्रचार किया है।

बुद्ध के सम्बन्ध में मतभेद
विष्णुबुद्ध और शाक्यसिंह बुद्ध

पुराणों के विभिन्न स्थलों में मायावाद को बौद्ध-मतवाद कहा गया है—ऐसा देखा जाता है। ऐसी परिस्थिति में यहाँ बौद्धमतवाद के सम्बन्ध में भी प्रसंगवशतः कुछ आलोचना होनी आवश्यक है। बुद्धदेव का मतवाद ही बौद्धमतवाद है। सुतरां बुद्ध-देव के सम्बन्ध में शास्त्रों का विचार क्या है, पाठक-वर्ग को जानना आवश्यक है। श्रीश्रीबुद्धदेव विष्णु के दश अवतारों में अन्यतम हैं। श्रील जयदेव गोस्वामी लिखते हैं—

वेदानुद्धरते जगन्ति वहते भूगोलमुद्बिभ्रते।
दैत्यं दारयते बलिं छलयते-क्षत्रक्षयं कुर्व्वते॥
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते।
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥

उन्होंने अन्यत्र दशावतार-स्तोत्र के नवम स्तोत्र में बुद्धदेव के सम्बन्ध में लिखा है—

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं
सदय-हृदय-दर्शित-पशुघातम्।
केशव-धृत बुद्ध शरीर जय जगदीश हरे॥

येही बुद्धदेव यदि विष्णु हों तब शंकराचार्य के साथ उनका क्या सम्बन्ध है, इस विषय की विशद आलोचना होनी चाहिये। शंकर के मतवाद को यदि बौद्ध-मतवाद कहना हो तो दोनोंके बीच सम्बन्ध किस जगह है उसे अनुसंधान करने की आवश्यकता है।

आचार्य शंकर ने बुद्धदेव के सम्बन्ध में जो विचार किया है, वह विशुद्ध प्रतीत नहीं होता। वे कहना चाहते हैं—वैष्णवों के उपास्य बुद्ध और शाक्यसिंह बुद्ध एक हैं। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं। परमपूज्य आचार्यकुल शिरोमणि जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्ति-सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर का बुद्ध के सम्बन्ध में कथन है—"शाक्यसिंह बुद्ध एक अतिज्ञानी जीव मात्र हैं।" अतः उन्हें भगवद्-अवतार बुद्ध के सहित एकाकार करने अथवा समान समझने से शाक्यसिंह बुद्ध के प्रति आचार्य शंकर की यथेष्ट आन्तरिक श्रद्धाभक्ति का ही परिचय मिलता है। उनको उन्होंने "असम्बद्ध प्रलापकारी कहकर श्लेष उक्ति करने पर भी वह लोक छलना के लिये केवल बाहरी रोषाभास प्रदर्शन मात्र ही है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि आचार्य शंकर ने किस स्थल पर ऐसा मन्तव्य प्रकट किया है। जिससे गौतम बुद्ध और आदि बुद्ध भगवान का एक होना प्रतीत होता है? इसके उत्तर में, मैं सज्जन पाठकवर्ग को शंकर के शारीरिक भाष्य पर विचार करने के लिये अनुरोध करता हूँ। इस सम्पर्क में हमारे पूर्व प्रदर्शित भाष्यधृत अंश में 'सुगतेन' शब्द द्वारा उन्होंने आदि बुद्ध न जानकर शुद्धोदन और 'माया' पुत्र गौतम बुद्ध को ही समझा है। बुद्ध के सिद्धान्त के सम्बन्ध में उनका नाम उल्लेख कर अपने भाष्य में उन्होंने कहा है—"सर्व्वथा अपि अनादरणीय अयंसुगत-समयः श्रेयस्कामैः इति अभिप्रायः।" इस वाक्य में उन्होंने मायापुत्र बुद्ध को ही सुगत बुद्ध कहने का भ्रम किया है। 'समयः' शब्द से सिद्धान्त का बोध होता है। 'सुगत-समय' कहने से 'सुगत-सिद्धान्त' या 'गौतम-सिद्धान्त' का बोध होता है। आदि बुद्ध या विष्णु के अवतार बुद्ध का दूसरा नाम सुगत है। यही नाम बौद्ध सम्प्रदाय में प्रचलित है। 'अमरकोष' इसका साक्षी है। इसके रचियता शून्यवादी बौद्ध अमरसिंह हैं। यह एक सुप्राचीन ग्रन्थ है। अमरसिंह का आविर्भावकाल आचार्य शंकर के अविर्भाव से न्यूनाधिक १५० वर्ष पूर्व होने का अनुमान किया जाता है। वे द्विज शवर स्वामी की एक शूद्राणी के गर्भजात पुत्र थे। इनके सम्बन्ध में पण्डित-समाज में अति प्राचीन समय से निम्नलिखित एक श्लोक प्रचलित है,—

ब्राह्मण्यामभवद् वराहमिहिरो ज्योतिर्व्विदामग्रणीः
राजा भर्त्तृहरिश्च विक्रमनृपक्षत्रात्मजायामभूत्।
वैश्यायां हरिचन्द्रो वैद्यतिलको जातश्च शङ्कुः कृती॥
शूद्रायाममरः कवेव शवरस्वामि द्विजस्यात्मजाः॥

अमरकोष के दो बुद्ध

अमर सिंह ने बौद्ध-धर्म के अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। दैववश उनके सारे ग्रन्थ आचार्य शंकर के हाथों में पड़े। आचार्य ने 'कोष-ग्रन्थ' को रख अवशिष्ठ सभी ग्रन्थों को जला दिया। उन के सुरक्षित इसी अमरकोष में ही बुद्धदेव के सम्बन्ध में लिपिबद्ध है।

"सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः ।
समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिनः ॥
षड्भिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः ।
मुनीन्द्रः श्रीघनः शास्तामुनिः" (६)'शाक्यमुनिस्तुयः
स शाक्यसिंहः सर्व्वार्थसिद्धः शौद्धादनिश्च सः।
गौतमश्चार्क बन्धुश्च मायादेवीसुतश्च सः॥"(७)

उक्त श्लोक में "सर्वज्ञः" से लेकर "मुनिः" पर्यन्त अठारह नामों से बुद्ध अर्थात् (६) "आदि बुद्ध को लक्ष्य किया गया है। (७) 'शाक्यसिंहमुनिस्तु' से "मायादेवीसुतश्चसः" पर्यन्त शाक्यसिंह बुधद् का बोध होता है। उक्त अठारह नामों से परिचित बुद्ध और बाद के सात नामों से परिचित बुद्ध कभी एक नहीं। इस संबन्ध में श्रीरघुनाथ चक्रवर्ती महोदय की टीका आलोच्य है। मैं उसके प्रयोजनीय अंश उद्धृत कर पाठक वर्गको समझाने की चेष्टा करूँगा। उक्त श्लोक त्रयों का चक्रवर्ती महोदय ने 'मुनिः' पर्यन्त को एक भाग एवं अवशिष्ट अंश को एक दूसरे भाग में विभक्त कर स्वर्ग वर्ग में '६' और '७' दोनों संख्याओं में टीका की है। '६' संख्या यथा—

"मुनिः पर्यन्तम अष्टादश बुद्धेः"

अर्थात् 'सर्वज्ञ' शब्द से लेकर 'मुनिः' पर्यन्त बुद्ध-वाचक हैं। अतः सुगत-शब्द भी विष्णुबुद्ध-वाचक है। अब '७' संख्या की टीका देखिये—

"एते सप्त शाक्यवंशावतीर्णे बुद्धमुनि विशेषे"

अर्थात 'शाक्यसिंह' शब्द से मायादेवी सुतश्च' पर्यन्त ७ शब्दों से शाक्यवंशावतीर्ण शाक्यसिंह मुनि या बुद्धमुनि को समझा जाता है। उक्त श्लोक तथा टीका से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि सुगत बुद्ध और शून्यवादी मुनिबुद्ध एक नहीं। यहाँ पाठकवर्ग से माननीय Mr. Carey महोदय द्वारा मुद्रित तथा Mr. H. T. Cole Brooke महोदय द्वारा सन् १८०७ ई० में श्रीरामपुर से प्रकाशित 'अमरकोष' ग्रन्थ को देखने का अनुरोध करूँगा। इस ग्रन्थ के २ और ३ पृष्ठों पर 'बुद्ध' शब्द का परिचय दिया गया है। २ पृष्ठ पर Marginal note में प्रथमोक्त अष्टादश नामोंके सम्बन्ध में 'AJINA or, BUDDHA' लिखा है तथा शेष के सात नामों के Marginal note में 'BUDDHA' इस प्रकार लिखा है। इस शेषोक्त बुद्ध शब्द के (b) foot note में लिखा है, (b) The founder of the religion named from him. श्री एच. टी. कोल ब्रुक महोदय ने जिन जिन टीकाओं का अवलम्बन कर इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया है उन्हें अपनी भूमिका में लिपिबद्ध किया है। उन्होंने माननीय रघुनाथ चक्रवर्ती महोदय की टीका के अलावा भी अन्य पचीस टीकाओं का उल्लेख किया है। गौतम बुद्ध ने ही बाह्यात्मवाद, ज्ञानात्मवाद तथा शून्यवाद की स्थापना की है। 'सुगत'-बुद्ध में किसी प्रकार की नास्तिकता की गन्ध का प्रमाण भी नहीं मिलता। शून्यवादी सिद्धार्थ कपिल-वंश के गौतम मुनि के शिष्य थे, इसीलिये उनका अपर नाम गौतम है।

"गुरुगोत्रादतः-कौत्सास्ते भवन्त स्म गौतमाः"
—सुन्दरानन्द चरित

(क्रमशः)

शरणागति

दैन्य—दुःखात्मक (कायिक)

[ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर]

मेरे दुःख की गाथा सुनिए, हे प्रभु जगदाधार।
सुधा समझ विष पिया विषय का, ऐसा मूढ़ गवाँर॥
जीवन रवि अब अस्त हो रहा, कौन करूँ उपचार। मेरे०

बचपन बीता खेलकूद में, पढ़ने में कैशोर।
नेक विवेक न आया मन में, माया घेरे घोर॥ मेरे०

भोग हेतु यौवन में मैंने, ब्याह किया भगवान।
पुत्र, मित्र हो गये अनेकों, पाया कष्ट महान॥ मेरे०

आई जरा, सभी सुख भागे, पीड़ित, कातर भारी।
क्षीण कलेवर हुआ, इन्द्रियाँ भी दुर्बल हैं सारी॥ मेरे०

नहीं भोग की शक्ति रही है, इससे दुःखित अन्तर।
ज्ञान-लेश से हीन, दीन मैं, भक्ति रहित, अति पामर॥ मेरे०

मेरा क्या उपाय अब होगा? दीनानाथ! मुरारे।
पतित-बन्धु! मुझ पतिताधम से सारे पापी हारे॥ मेरे०

मेरा करो विचार प्रभो! तो पाओ गुण नहीं एक।
इस कारण मेरे दोषों का करो विचार न नेक॥ मेरे०

निज-पद-पंकज अमृत पिलाओ, मिटे प्रमाद-प्रमोद।
पार करो जीवन की नौका, कहता भक्तिविनोद॥ मेरे०

ब्रज-महिमा

[शंकरलाल चतुर्वेदी बी० ए० साहित्यरत्न]

जाको नाम लेत भव-सिन्धु सौं तरें हैं नर,
जाके बाम गोपद होत वारिधि महान है।
'शंकर' सकल सिद्ध ऋद्धि नव निद्धि देत,
जाको प्रभाव पावन गंग सौं महान है।
जाकी रज खेले और खाई कृष्ण कौतुकी ने,
धारत पद रज में मिटै विधि के विधान है।
बार बार बन्दौं ब्रजभूमि, नन्दनन्दन लौं,
जाकी सुजस चन्द्रिका जाहिर जहान है।

भक्त कालीदास

भगवान् सदा से निष्कपट भक्ति के वश में होते आये हैं। वे योग-याग, कर्म-ज्ञान, व्रत, होम, स्वाध्याय और तपस्यादि साधनों से उतने वश में नहीं होते जितने भक्ति से। अनन्य प्रेम-भक्ति-रज्जू के द्वारा भक्त भगवान् को बाँध लेता है। भक्त भगवान् का हृदय है, और भगवान् भी भक्त के हृदय हैं। भक्त भगवान् के अतिरिक्त किसी को जानता नहीं और भगवान् भी भक्त के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं जानते। शास्त्रों में ऐसे भक्तों की पदरज, पादोदक और उच्छिष्ट का अत्यधिक माहात्म्य कीर्त्तन किया गया है। श्रीकृष्ण के उच्छिष्ट को महाप्रसाद कहते हैं, फिर वही महाप्रसाद भक्तों का उच्छिष्ट होने पर महामहाप्रसाद कहलाता है। घृणा, लाज और भय का परित्याग कर इस महामहाप्रसाद का सेवन करने से साधक की सारी वाँछाएँ पूर्ण होती हैं। भक्ति के साधन में ये तीनों महान बल देते हैं। जिन श्रद्धालु साधकों की श्रद्धा इन तीनों के प्रति हुई, फिर भगवान भी पदधूलि की लालसा से उनके पीछे-पीछे दौड़ते हैं। ऐसे भक्तों को जड़ीय भेद-दर्शन नहीं रहता। ऐसे भक्तों का जीवन धन्य है। जगत् उनके दर्शनों से पवित्र हो जाता है। भक्त-प्रवर कालीदास जी ऐसे ही परम भागवतों में से थे।

सरस्वती का विशाल वक्ष शुष्क होने पर भी बंगाल के इतिहास में इसकी पुरानी सुजला-सुफला मूर्त्ति स्वर्णाक्षरों में अंकित है। इसी सरस्वती नदी के किनारे सप्तग्राम एक समय बंगाल का प्रसिद्ध बन्दर और समृद्धिशाली नगर था। उसके पास ही भदूया नामक ग्राम में श्रीमन्महाप्रभु के समसामयिक कालीदासजी का जन्म हुआ। ये परम वैष्णव थे। बाल्यकाल से ही भगवन्नाम में इनकी अपूर्व निष्ठा थी। खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते सर्वदा भगवान् के मधुर नामों का उच्च-स्वर से कीर्त्तन करते थे। ये अपने गृह में प्रत्येक कार्य "हरे कृष्ण हरे कृष्ण" के संकेत से करते थे। वैष्णवों के प्रति तो इनकी बड़ी ही अद्भुत निष्ठा थी। वे जहाँ कहीं भी वैष्णवों का पता पाते, वहीं दौड़ जाते, उनके पास खाने के लिए उत्तम उत्तम वस्तुएँ भेंट कर उनका उच्छिष्ट महामहाप्रसाद आग्रह से माँग कर खाते। इसी में वे परमानन्द का अनुभव करते। यदि कोई भक्त संकोचवश इन्हें अपना उच्छिष्ट नहीं देता तो ये आस-पास कहीं छिप जाते। जब वह भक्त उस प्रसाद को खाकर उच्छिष्ट-पात्र बाहर फेंक देता तो ये उस पात्र को लेकर चाटने लगते और उसके अप्राकृत रसास्वादन में विभोर हो जाते। ब्राह्मण-वैष्णवों की तो बात ही क्या, शूद्र कुलोद्भूत वैष्णवों के घर भी लुक-छिप कर उनके उच्छिष्ट खाया करते। ये सभी जीवों को भगवद्दास के रूप से दर्शन करते थे। अतः सर्वदा ही उनकी स्वाभाविक सेवा-वृत्ति थी। उनमें सीमित सामाजिक दर्शन का तनिक भी स्थान न था। वे उनके उच्छिष्ट को महामहाप्रसाद के रूप में ग्रहण करते थे न कि सामाजिक ब्राह्मण या शूद्र की धारणा से। ये तन्मय होकर श्रीहरिनाम का उच्च स्वर से कीर्त्तन करते, भक्तों का पादोदक पान करते, उनकी पदधूलि मस्तक पर धारण करते तथा उनके उच्छिष्ट महामहाप्रसाद का सेवन बड़ी श्रद्धा के साथ करते थे। यही थी इनकी भक्ति और यही था इनका साधन-भजन।

उनके पड़ोस में झड़ू नामक एक परम वैष्णव रहते थे। ये जाति के शूद्र थे। इनकी स्त्री भी पति-परायणा और परमा वैष्णवी थीं। एक दिन श्री कालीदास जी इनके दर्शनों के लिए इनके घर पधारे। साथ में कुछ पके सुन्दर आम थे। दम्पति उस समय भगवन् कथा में मग्न थे। कालीदास ने बड़ी श्रद्धा से प्रणाम किया। एक आभिजात्य सम्पन्न वैष्णव को अचानक अपनी झोपड़ी में आया देखकर दोनों को आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होंने उठ कर अपने अतिथि की अभ्यर्थना कर बड़ी प्रीति से बैठाया। परस्पर कुछ देर तक इष्ट-गोष्ठी होने के बाद झड़ू ठाकुर अत्यन्त ही दीनता से कहने लगे—प्रभो, आज हमारा अहोभाग्य है। आपकी पवित्र चरण-रज से हमारी कुटिया पवित्र हो गयी। आज

हमारा जीवन सार्थक हुआ। किन्तु मैं शूद्र-कुलोद्भूत एक नीच आपका सत्कार किस तरह करूँ ? आज्ञा हो, किसी ब्राह्मण के घर में आपके भोजन की व्यवस्था करवा दूं।

कालीदास ने कृतज्ञता के भार से दबते हुये कहा—महाराज, मैं बड़ा ही पतिताधम हूँ। आपके श्रीचरणों के दर्शन तथा आपके मुख से श्रीभगवत्--कथामृत का रसास्वादन करने के लिये मैं यहाँ आया था। आपके पवित्र दर्शनों से मुझे सब-कुछ मिल गया। फिर भी एक बड़ा अरमान है,—बड़ी कृपा होगी यदि आप अपने चरणों को मेरे मस्तक पर रख कर उनकी पवित्र रज से मुझे अभिषिक्त कर दें।

'आपको ऐसा कहना उचित नहीं' झंडू ठाकुर ने गिड़गिड़ा कर कहा। कहाँ एक शूद्र जाति का अधम मैं और कहाँ एक कुलीन कायस्थ आप—आपके मुख से ये बातें शोभा नहीं देतीं।'

कालीदास बीच ही में बोल उठे—'वैष्णवों की कोई जाति-पाँति नहीं होती। वह तो जाति बन्धन से परे होता है क्योंकि उनकी देहात्म बुद्धि नहीं होती। वे कृपा कर जिस जाति और कुल में आविर्भूत होते हैं वह जाति और कुल धन्य हो जाता है। कृष्ण-भजन में जाति कुल का विचार नहीं रहता। कृष्ण-भजन का तारतम्य ही उनमें छोटे बड़े होने का तुला--दण्ड है। भगवान् को अभक्त ब्राह्मण प्रिय नहीं, प्रिय तो उनके भक्त हैं—चाहे वह शूद्र कुल का हो अथवा अन्य किसी कुल का। मैं एक कृष्ण-विमुख द्वादश गुण-विशिष्ट विप्र की अपेक्षा कुक्कुर भोजी चण्डाल कुल में अविर्भूत व्यक्ति को श्रेष्ठ समझता हूँ जिसका मन, वचन, कर्म, चेष्टा, अर्थ और प्राण श्रीहरि के चरणों में अर्पित हैं। चारों वर्ण और चारों आश्रम भक्ति तक पहुँचने में एक एक सोपान हैं। जो सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ है, वह निम्नस्थ सोपानों का अतिक्रमण कर चुका है—ऐसा समझना चाहिये। जिस प्रकार एम० ए० क्लास के विद्यार्थीमें निम्न श्रेणियों की योग्यता गौणरूप से वर्तमान होती है उसी तरह वैष्णवों में में ब्राह्मणत्व आदि गुण गौणरूप से अनुस्युत होते हैं। ब्राह्मणत्व लाभ किये बिना वैष्णवत्व प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो भगवन्नामों का कीर्तन करते हैं, वे श्वपच कुल में अवतीर्ण होने पर भी श्रेष्ठ हैं। उन्होंने अपने पूर्व-पूर्व जन्मों में ही सारी तपस्याओं को कर लिया है, ब्राह्मणादि उच्चवर्णों के अधिकारोचित होमादि अनुष्ठानों को समाप्त कर लिया है तथा उनका समस्त तीर्थों में स्नान हो चुका है। वे ही प्रकृत सदाचारी आर्य हैं और वे स-अंग वेद अध्ययन कर चुके हैं। शास्त्रों में इसके भूरि-भरि प्रमाण हैं। आप परम भागवत हैं। आप कृपा करें।'

'आपका सारा कथन शास्त्र सम्मत परम सत्य है, मैं इसे मानता हूँ।' झंडू ठाकुर ने नम्रता से कहा। 'किन्तु वह भक्त होना चाहिये। मैं अधम भला भक्ति करना क्या जानूँ। आहार, निद्रा, भय, मैथुनरूप पशु-धर्म में हमारा जीवन कट गया। भगवन्नाम और उनकी कथाओं में तनिक भी रुचि न हुई। मैं तो विषय-गर्त में पड़ा हुआ एक क्षुद्र कीट हूँ।'

कालिदास ने कहा—'महात्मन, दैन्य भगवद्भक्ति की सुदृढ़ भित्ति है। इसी सुदृढ़ भित्ति पर भगवद्भक्ति का विराट महल खड़ा है। हरि-संकीर्त्तन का वही अधिकारी है जो तृण की अपेक्षा अपने को क्षुद्र समझता है, जो वृक्ष की तरह सहिष्णु होता है, जो स्वयं मानशून्य होकर दूसरों को सम्मान प्रदान करता है। हरि-संकीर्त्तन का तारतम्य ही वैष्णवत्व का तारतम्य है। सुतरां जिसे जितना अधिक दैन्य है उसका हरि संकीर्त्तन उतना ही सुष्ठु होता है और जिसका हरि--संकीर्त्तन जितना ही सुष्ठु होगा वह उतना ही उत्तम वैष्णव है। दैन्य, वैष्णवता और हरि-संकीर्त्तन एक ही सूत्र में परस्पर संबद्ध हैं। आप दीनता की प्रतिमूर्ति हैं। आप अपने को शूद्र कुल के आवरण में ढक कर मुझे वंचित करना चाहते हैं।

इस प्रकार कालीदास के बहुत आग्रह करने पर भी झंडू ठाकुर ने अपनी चरण-रज देने के लिये प्रस्तुत न हुए। आखिर कालीदास उस दम्पति को प्रणाम कर विदा हुए। झंडू ठाकुर उन्हें कुछ दूर तक पहुँचाकर घर लौट आए। कालिदास ने

सुअवसर देखकर जिस स्थान पर झड़ठाकुर के पद-चिह्न पड़े थे उस स्थान की धूल उठाकर मस्तक पर धारण किया, फिर सारे अंगों में लगाया और लौट कर झड़ठाकुर की झोपड़ी के पीछे छिप गये।

इधर झड़ठाकुर घर लौटे। उन्होंने श्रीविग्रह के निकट तुलसी प्रभृति द्वारा निवेदन की विधि का अवलम्बन न कर उन आमों का कृष्ण के लिए मानस भोग लगाया। उनकी सहधर्मिणी उन प्रसादी आमों को पतिदेव को खिलाने लगी। वे आमों को चूस कर गुठलियों और छिलकों को अलग रखते जाते थे। तत्पश्चात् उनकी सहधर्मिणी ने स्वयं उन्हें चूस कर गुठलियों और छिलकों को बाहर घूरे पर फेंक दिया।

झड़ठाकुर ने इतिपूर्व किसी ब्राह्मण के घर कालीदास के भोजन की व्यवस्था के लिये अनुरोध किया था। कालीदास को यह स्मरण था। किन्तु ब्राह्मण के घर प्रसाद पाने से उनका आत्मभोग तथा वैष्णव को नीच कुल में उद्भूत अस्पृश्य विचार से उनकी अवज्ञा का अपराध लगेगा—ऐसा समझकर उनसे सहमत न हुए थे। अब उनके महामहाप्रसाद सेवन का सुयोग उपस्थित हुआ था। वे घूरे पर फेंके हुए उच्छिष्ट गुठलियों और छिलकों को उठा कर चूस चूस कर महामहाप्रसाद का सम्मान करते-करते प्रेमानन्द में विभोर होकर नृत्य करने लगे।

श्रीमन्महाप्रभु इनकी निष्ठा और भक्ति-भाव से संतुष्ट होकर श्रीधाम पुरी में उनके ऊपर स्वयं प्रचुर कृपा की थी।

हम लोग अनेक समय आत्म-भोग के लिए प्रसाद के भक्त बनते हैं। वस्तुतः वहाँ अप्राकृत प्रसाद में हमारी सेवाबुद्धि का अभाव रहता है—हम आत्मभोग की स्पृहा या जिह्वा लाम्पट्य के लिए ही भक्ति के थाल में प्रसाद सजाया करते हैं। कालिदास ने अपने आदर्श में दिखलाया है कि जिस वस्तु को शुद्ध वैष्णव ग्रहण नहीं करते उसे नाना प्रकार नैवेद्य की मुद्रा तथा अर्चन-विधि के अनुसार बाह्य दृष्टि से तुलसी प्रभृति संयोग द्वारा श्रीविग्रह के निकट उपस्थित किये जाने पर भी प्रकृत-प्रस्ताव में श्रीभगवान् ने उसे ग्रहण किया है या नहीं—संदेह रहता है। किन्तु वैष्णव ब्राह्मण, श्वपच या किसी अन्य कुल का हो, वह बाह्य दर्शन से स्त्री या पुरुष अथवा गृहस्थ या संन्यासी हो, वह नैवेद्य की विधि से भगवान् को भोग निवेदन किया हो अथवा न किया हो, भगवान् सुनिश्चित रूप से उसे ग्रहण करते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—"भक्तस्य रसनाग्रेण रसमश्नामि पद्मज", अर्थात् 'हे ब्रह्मन्, मैं भक्तों की जिह्वा के अग्रभाग से रस ग्रहण करता हूँ।'

यहाँ कालीदास के आदर्श से एक और लक्ष्य करने का विषय है। हम बहुधा भूरि-भोजन या उत्तम वस्तुओं के भोजन के लिए महाप्रसाद की दुहाई देकर अपनी जिह्वा लाम्पट्य चरितार्थ करने का सुयोग अन्वेषण करते हैं। किन्तु कालीदास घूरे पर पड़े जिन गुठलियों और छिलकों का संग्रह किया था उसमें उत्तम या भूरि-भोजन का पदार्थ कुछ भी अवशिष्ट न था। इसके द्वारा उन्होंने भी हमें समुचित शिक्षा दी है कि जो कुछ भी सार भाग है उसे हरि-गुरु वैष्णवों को प्रदान करना चाहिये। मक्खन या राबड़ी उन्हें ही भोग लगाना चाहिये। हम लोग उनसे निःशेषित अवशिष्ट स्वल्प महाप्रसादरूप से ग्रहण कर निरन्तर कृष्ण भजन के लिये जीवन धारण करेंगे। सार भाग ग्रहण नहीं करने से हमारा शरीर कैसे टिकेगा? ऐसी दुर्बुद्धि अनर्थयुक्त बद्ध जीवों के हृदय में उदित होती है। इस दुर्बुद्धि के मारे हम समझते नहीं कि उत्तम खाने तथा उत्तम पहनने से हमारा जो शरीर पुष्ट होगा, उसे माया की दासता ही चूस कर खा जायेगी। जिनकी ऐसी दुर्बुद्धि दूर नहीं हुई है, वे शरीर की पुष्टि के फल को भगवत् सेवा में कभी नियोजित नहीं कर सकते। निरन्तर अकृत्रिम कृष्ण-सेवा-परायण वैष्णवों की उत्तम वस्तुओं में आसक्ति नहीं रहती। उनका विचार यह है कि हम प्रसाद को भोजन नहीं कर सकते प्रसाद हम लोगों को भोजन करते हैं—और करेंगे। महामहाप्रसाद जिनको आत्मसात कर चुके हैं अथवा करते हैं वे ही प्रकृत प्रस्ताव में चतुर्विध रस समन्वित उत्तम २ प्रसाद-सेवन के अधिकारी हैं।

श्रीकालीदास और श्रीझड़ठाकुर के आदर्श से आधुनिक सुविधावादी सम्प्रदाय एक दूसरा ही तथ्य बाहर करने की चेष्टा करेगी। अतः उसके प्रतिषेधक कुछ बातें कहनी आवश्यक हैं—जो प्रकृत 'हरिजन' शब्द के तात्पर्य को विकृत करने के पक्षपाती हैं और जागतिक सुविधावादी हैं, वे कह सकते हैं कि आभिजात्य सम्पन्न कालीदासने जब शूद्रका उच्छिष्ट खाया है तब महाप्रभु भी आधुनिक अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन के प्रवर्त्तक या समर्थक हैं। कालिदास या महाप्रभु के अन्य भक्त किसी दिन भी शूद्र, यवन अथवा बहिर्मुख शौक ब्राह्मणोंके समाजिकताके साथ अस्पृश्यता या स्पृश्यता का विचार नहीं करते थे अथवा नीच कुल के व्यक्तियों को 'हरिजन' नहीं कहा। एक तरफ जिस प्रकार झड़ठ कुर प्रकृत अप्राकृत हरिजन थे, दूसरी तरफ आभिजात्य सम्पन्न श्रीरूप, सनातन रघुनाथ भट्ट, श्रीकालीदास—ये सभी अप्राकृत हरिजन हैं। यदि कालीदास झड़ठाकुर को शूद्र होने के नाते उनका अथवा उनकी स्त्री का उच्छिष्ट ग्रहण किये होते अथवा गृहस्थ लीला अभिनयकारी ब्राह्मण कुल शिरोमणियों के अग्रणी श्रीअद्वैतप्रभु शान्तिपुर में अपने गृह में ठाकुर हरिदासजी को एक मुसलमान समझकर उनके साथ एक पंक्ति में भोजन करते तो आधुनिक सुविधावादियों का कहना सत्य समझा जाता। किन्तु उन्होंने—"तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहं" विचार से उन्हें अप्राकृत हरिजन जानकर उनके प्रति सम्पूर्ण जाति-बुद्धि-रहित होकर केवलमात्र हरिभजन के अनुकूल षड्विध संग लाभ के उद्देश्य से ऐसा आचरण दिखलाया था। उनका आचरण महाप्रभु के भक्तों का आदर्श है। गौड़ीय-वैष्णवों का यह सुविचारपूर्ण सदाचार जिसदिन मानव जाति ग्रहण करेगी उसी दिन विश्व की सभी अमीमांसित जटिल समस्याओं का सुन्दर समाधान हो जायगा। सर्वत्र ही उच्च गुणों का आदर होना चाहिये। शास्त्र और महाजनों की यही शिक्षा है।

जैवधर्म

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष १, संख्या १, २३ पृष्ठ के आगे]

कुछ दिन इस तरह रहने के बाद संन्यासी ने परमहंस बाबा जी से तत्त्व-जिज्ञासा करने की इच्छा की। इस समय वेष के सिवा और सब बातें उन्होंने वैष्णवों जैसी ग्रहण कर ली थीं। शम-दम आदि गुणों से सम्पन्न होकर सम्पूर्ण-रूप से ब्रह्मनिष्ठा उन्होंने पहिले ही प्राप्त करली थी। इस समय उस निष्ठा के ऊपर परब्रह्म की चित्-लीला-निष्ठा भी उत्पन्न हुई। साथ-ही-साथ दीन भाव भी प्रबल हो उठा।

एक दिन अरुणोदय के समय परमहंस बाबाजी पवित्र होकर तुलसी माला में हरिनाम-संख्या करते-करते माधवी-मण्डप में बैठे। कुञ्ज-भंग-लीला की स्मृति हो आने के कारण उनके नेत्रों से निरन्तर प्रेमाश्रु की धारा प्रवाहित होरही थी। अपने सिद्ध भाव से परिभावित तत्कालोचित सेवा में नियुक्त हो कर वे अपनी स्थूल देह की स्मृति को खोने लगे। सन्यासी जी उनके भाव से मुग्ध होकर उनके निकट बैठ गये और उनके सात्त्विक भावों को देखने लगे।

देखते-ही-देखते परमहंस-बाबाजी ने कहा—"सखी, इस कल को शीघ्र निस्तब्ध करो, नहीं तो मेरे राधा-गोविन्द की सुख-निद्रा उचट जाने से सखी ललिता दुःख पायेगी और मेरी भर्त्सना करेगी। अरी देखो, अनङ्गमञ्जरी इसके लिए इंगित कर रही हैं। तुम रमणमञ्जरी हो, तुम्हारी यही निर्दिष्ट सेवा है। तुम उसमें यत्नवती होओ।"

यह कहते-कहते परमहंस बाबाजी अचेतन हो गये। संन्यासी महाराज अपनी सिद्ध देह और सिद्ध परिचय जानकर उसी समय से उस सेवा में नियुक्त हुए। क्रमशः प्रातःकाल हुआ। पूर्व दिशा में उषा

शोभा विस्तार करने लगी। पक्षी चतुर्दिक कलरव करने लगे। मृदु मन्द समीर प्रवाहित होने लगा। बाल-सूर्य की रक्तिम आभा से उद्भासित प्रद्युम्न कुञ्ज के माधवी मण्डप की उस समय जो अपूर्व शोभा हुई, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

परमहंस बाबाजी कदली के वल्कलासन पर बैठे हैं। धीरे-धीरे बाह्य स्फूर्ति होरही है। नाम-माला फेरने लगे।

इसी समय संन्यासीजी ने बाबाजी के चरणों में साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करके उनके समीप विनीत भाव से बैठकर हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! यह दीनजन एक प्रश्न करता है। उत्तर प्रदान कर हृदय को शीतल करें। ब्रह्म-ज्ञान की अग्नि से दग्ध हृदय में ब्रज-रस का संचार कीजिए।"

बाबाजी ने कहा—"आप योग्य पात्र हैं। आप जो प्रश्न करेंगे, उसका मैं यथाशक्ति उत्तर दूंगा।"

संन्यासी ने कहा—'प्रभो! मैं बहुत दिनों से धर्म की प्रतिष्ठा सुनकर 'धर्म' क्या है? यह प्रश्न अनेक लोगों से अनेकों बार कर चुका हूँ। दुःख का विषय यही है कि इस प्रश्न के उत्तर में उन लोगों ने जो कुछ कहा, वे सब परस्पर विरोधी दीख पड़ते हैं। इसलिए आप कृपा करके बतलाइये, 'जीव का धर्म क्या है?' और भिन्न-भिन्न उपदेशक क्यों भिन्न-भिन्न उपदेशको 'धर्म' कहा करते हैं। धर्म यदि एक है, तो सभी पण्डित क्यों नहीं उसी एक अद्वितीय धर्म का अनुशीलन करते?'

श्री कृष्णचैतन्य प्रभु के श्रीचरण-कमलों का ध्यान करके परमहंस बाबाजी कहने लगे—"हे सौभाग्यवान्! मैं अपने ज्ञान के अनुसार धर्म का तत्त्व कहता हूँ। 'जिस वस्तु का जो नित्य स्वभाव है, वही उसका नित्य धर्म है। वस्तु के गठन से स्वभाव का उदय होता है। कृष्ण की इच्छा से जब कोई वस्तु गठित होती है, तब उस गठन का नित्य सहचररूप एक स्वभाव भी होता है। वही स्वभाव उस वस्तु का नित्य धर्म है। तत्पश्चात् किसी घटनावश अथवा अन्य वस्तु के संसर्ग से उस वस्तु में कोई विकार होता है तब उसका स्वभाव भी विकृत या परिवर्तित हो जाता है। परिवर्तित स्वभाव कुछ दिन में दृढ़ होने पर नित्य स्वभाव की तरह उस वस्तु का साथी हो पड़ता है। यह परिवर्तित स्वभाव, स्वभाव नहीं है। इसका नाम निसर्ग है। निसर्ग स्वभाव के स्थान में बैठे अपने को स्वभाव कह कर अपना परिचय देता है। जैसे—जल एक वस्तु है। तरलता उसका स्वभाव है। घटना वशतः जल जब जम कर हिम हो जाता है, तब काठिन्य उसका निसर्ग हो कर स्वभाव की तरह कार्य करता है। वास्तव में निसर्ग (बदला हुआ स्वभाव) नित्य नहीं, नैमित्तिक है। कारण, वह किसी निमित्त (कारण) से उदित होता है और निमित्त दूर होने पर वह स्वयं दूर हो जाता है। किन्तु स्वभाव नित्य है। विकृत होने पर भी वह वस्तु में अनुस्यूत रहता है। काल और घटना क्रम से स्वभाव अवश्य ही अपना परिचय दे सकता है।

वस्तु का स्वभाव ही वस्तु का नित्य-धर्म है। वस्तु का निसर्ग ही वस्तु का नैमित्तिक धर्म है। जिन्हें वस्तु का ज्ञान है वे नित्य और नैमित्तिक-धर्म के प्रभेद को जान सकते हैं और जिन्हें वस्तु का ज्ञान नहीं, वे निसर्ग को ही स्वभाव समझते हैं तथा नैमित्तिक-धर्म को ही नित्य-धर्म समझ बैठते हैं।"

संन्यासी ठाकुर ने पूछा—"वस्तु किसे कहते हैं तथा 'स्वभाव' शब्द का अर्थ क्या है?"

परमहंस जी ने कहा— 'वस'-धातु में संज्ञा अर्थ में 'तु' प्रत्यय लगा कर 'वस्तु' शब्द बनता है। अतएव जिसका अस्तित्व या प्रतीति है वही वस्तु है। वस्तु दो प्रकार की है—वास्तव और अवास्तव। वास्तव वस्तु परमार्थ-भूत तत्त्व है। अवास्तव वस्तु द्रव्यगुणादिरूप है। वास्तव वस्तु का अस्तित्व या सत्ता है। अवास्तव वस्तु का अस्तित्व केवल प्रतीत होता है। प्रतीति किसी जगह सत्य होती है और किसी जगह केवल भानमात्र होती है। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के द्वितीय श्लोक में "वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं" (क) की जो अवतारणा है, उसमें "वास्तव वस्तु" एक मात्र परमार्थ है, ऐसा निर्णय

(क) परम सुखद परमार्थ सम्बन्धीय वास्तव वस्तु ही जानने योग्य है।

किया जा चुका है। भगवान् एकमात्र वास्तव वस्तु हैं। जीव उस 'वस्तु' का पृथक अंश है, तथा माया उस वस्तु की शक्ति है। अतएव 'वस्तु' शब्द से भगवान्, जीव और माया—इन तीनों तत्त्वों को समझना चाहिये। इन तीनों के परस्पर सम्बन्ध-ज्ञान को शुद्धज्ञान कहा जाता है। इन तत्त्वों की बहुविध प्रतीतियाँ हैं। उन सबकी अवास्तव वस्तु में गणना होती है। वैशेषिकों के द्रव्य और गुणों की संख्या केवल अवास्तव वस्तु की आलोचना मात्र है। वास्तव वस्तु का जो विशेष गुण है। वही उसका स्वभाव है। जीव एक वास्तव वस्तु है। जीव का जो नित्य विशेष गुण है वही उसका स्वभाव है।

सन्यासी महाराज ने कहा—"प्रभो! इस विषय को मैं अच्छी तरह जानना चाहता हूँ।"

बाबाजी ने कहा,—"श्रीनित्यानन्द प्रभु के कृपा-पात्र कृष्णदास कविराज नामक एक व्यक्ति ने मुझे, एक हस्तलिखित ग्रन्थ दिखाया है। उस ग्रन्थ का नाम 'श्रीचैतन्य चरितामृत है। उसमें श्रीमहाप्रभु के विषय में एक उपदेश है—

"जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद-प्रकाश॥
कृष्ण भूलि' सेई जीव अनादि-बहिर्म्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार-दुःख॥

(चै० च० मध्य० २०।१०८, ११७)

अर्थात् जीव का स्वरूप कृष्ण का नित्यदास है। वह कृष्ण की तटस्था शक्ति है तथा उसका भेदाभेद-प्रकाश है। जब कृष्ण को भूल कर जीव अनादि बहिर्मुख होता है, तब माया उसे संसाररूपी दुःख देती है।

कृष्ण परिपूर्ण चित् वस्तु हैं। तुलनास्थल में अनेक लोग उन्हें चित्-जगत् का एकमात्र सूर्य कहा करते हैं। जीव उनका किरणकण मात्र है। जीव अनेक हैं। 'जीव कृष्ण का अंश है'—यह कहने से पत्थर का एक टुकड़ा जैसे पर्वत का अंश है वैसे न समझना चाहिये, कारण अनन्त अंशरूप जीव श्रीकृष्ण से निकला हुआ होने पर भी, उससे कृष्ण के किसी अंश का क्षय नहीं होता। इसी कारण वेद अग्नि की चिनगारी के साथ जीव का एकांश में सादृश्य बतलाते हैं। वस्तुतः इस विषय में तुलना का स्थल नहीं है। महाग्नि की चिनगारी कहिये, चाहे सूर्य का किरण-परमाणु अथवा मणि प्रसूत स्वर्ण, कोई भी तुलना सर्वाङ्ग-सुन्दर नहीं होती। किन्तु इन सब तुलनाओं के अवीय भावांश परित्याग करने पर सहज हृदय में जीव-तत्त्व की स्फूर्ति होती है। कृष्ण बृहत् चित्-वस्तु हैं—और जीव उनकी अणु चित् वस्तु है। चित् धर्म में दोनों का ऐक्य है; किन्तु पूर्णत्व और अपूर्णत्व के भेद से दोनों का स्वभाव-भेद अवश्य सिद्ध होता है। कृष्ण जीव के नित्य प्रभु हैं, जीव कृष्ण का नित्यदास है। इसी को स्वाभाविक कहना होगा। कृष्ण आकर्षक हैं, जीव आकृष्ट है; कृष्ण ईश्वर हैं, जीव ईशितव्य है; कृष्ण द्रष्टा हैं, जीव दृष्ट है; कृष्ण पूर्ण हैं, जीव दीन और क्षुद्र है; कृष्ण सर्वशक्तिमान हैं और जीव निःशक्तिक है। अतएव कृष्ण का नित्य अनुगत्य या दास्य ही जीव का नित्य स्वभाव या धर्म है। कृष्ण अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं, अतएव चित् जगत को प्रकाश करने में जैसे उनकी पूर्ण शक्ति का परिचय पाया जाता है, वैसे ही जीव सृष्टि के विषय में उनकी एक तटस्था शक्ति का परिचय मिलता है। अपूर्ण जगत के संघटन में कोई विशेष शक्ति कार्य करती है, उस शक्ति को तटस्था कहते हैं। तटस्था शक्ति की क्रिया यही है कि वह चित् वस्तु और अचित् वस्तु—इन दोनों के बीच में एक ऐसी वस्तु का निर्माण करती है, जो चित् जगत् और अचित् जगत्—दोनों के साथ संबंध रखने के योग्य होती है। शुद्ध चिद्वस्तु अचिद्वस्तु के विपरीत होती है, अतएव स्वभावतः अचित् वस्तु के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। जीव चित् कण तो अवश्य है; किन्तु एक ऐसी शक्ति (ईश्वरीय

शक्ति) के द्वारा वह अचित् सम्बन्ध के उपयोगी हुआ है। उस ऐशी शक्ति का नाम तटस्था है। नदी के जल और भूमि इन दोनों के बीच में तट होता है। जिसे तट कहते हैं, वह भूमि भी है और जल भी अर्थात् उभयस्थ है। उक्त ऐशीशक्ति तट पर स्थित होकर भूधर्म और जलधर्म—दोनों को ही एक सत्ता में धारण करती है; जीव का धर्म चित् होता है, फिर भी उसका गठन ही ऐसा होता है कि कि वह जड़धर्म के वश होने योग्य होता है। अतएव जीव शुद्ध चित् जगत् की तरह जड़ संबन्ध से परे नहीं होता। चित् धर्म के कारण वह जड़ वस्तु भी नहीं है। अतः जड़ और चित्—इन दोनों तत्त्वों से पृथक होने के कारण जीव भी एक तत्त्व माना गया है। इसलिये ईश्वर और जीव में नित्य भेद स्वीकार करना कर्त्तव्य है। ईश्वर माया का अधिश्वर है अर्थात् माया उसके वशीभूत तत्त्व है; जीव माया वश्य है, अर्थात् किसी विशेष अवस्था में वह माया के वश हो सकता है। अतएव भगवान्, जीव और माया—ये तीन तत्त्व पारमार्थिक सत्य और नित्य हैं। इनमें "नित्योनित्यानाम्" (क) २/२।१३) इस वेद वचन द्वारा भगवान् तीनों तत्त्वों के मूल नित्य तत्त्व हैं।

जीव स्वभावतः कृष्ण का नित्यदास और उसकी तटस्थाशक्ति का परिचय है। ऐसा विचार करने से यह सिद्धान्त होता है कि जीव भगवत्-तत्त्व से युगपत् भेद और अभेद है, सुतरां वह भेदाभेद-प्रकाश है। जीव मायावश्य है, किन्तु भगवान् माया के नियन्ता हैं, इस स्थल पर जीव और भगवान में नित्य भेद है। जीव स्वरूपतः चित् वस्तु हैं। भगवान् भी स्वरूपतः चित् वस्तु हैं एवं जीव भगवान् की शक्ति-विशेष है। इसी कारण इस अंश में इन दोनों में नित्य अभेद है। नित्य भेद और नित्य अभेद यदि युगपत हो, तो नित्य भेद का परिचय ही प्रबल होता है। कृष्ण की दासता (सेवा वृत्ति) ही जीव का नित्य धर्म है। उसे भूल कर जीव माया के वशीभूत होता है। सुतरां तभी से जीव कृष्ण से बर्हिमुख हो जाता है। क्योंकि मायिक जगत् में आने समय से ही यह बर्हिमुखता परिलक्षित होती है, अतः मायिक जगत् के काल के भीतर जीव के पतन का इतिहास नहीं है। इसलिये अनादि 'बर्हिमुख' शब्द का व्यवहार किया है। बर्हिमुखता और माया में प्रवेश करने के काल से ही जीव का नित्य धर्म विकृत हुआ है। अतएव माया के संग से जीव का निसर्ग उदय होने पर नैमित्तिक धर्म को प्रकाशित होने का अवसर मिला है। नित्य धर्म एक, अखण्ड और निर्दोष है; नैमित्तिक धर्म भिन्न-भिन्न आकारों से, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में, भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा, भिन्न-भिन्न रूपों में प्रचारित होता है।

परमहंस बाबाजी यहाँ तक कहकर चुप हो गए और हरिनाम का जप करने लगे।

संन्यासी ठाकुर ने इन सब तत्त्व की बातें सुन कर दण्डवत् प्रणाम करते हुए कहा,—"प्रभो! मैं आज इन सब बातों पर विचार करूँगा। जो कुछ प्रश्न मन में उदित होंगे, उन्हें कल आपके श्रीचरणों में निवेदन करूँगा।"

प्रथम अध्याय समाप्त

—:*:—

श्रीगौड़ीय वेदान्त चतुष्पाठी का परीक्षा फल

हम हर्ष के साथ सूचित करते हैं कि श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति की श्रीगौड़ीय वेदान्त चतुष्पाठी, चिनसुरा (पश्चिम-बंग) से इस वर्ष श्रीजीव गोस्वामी रचित श्रीहरिनामामृत व्याकरण की आद्य परीक्षा में श्रीनिमाई ब्रह्मचारी और श्रीधन्यातिधन्य ब्रह्मचारी विशेष कृतीत्व के साथ द्वितीय विभाग में उत्तीर्ण हुए हैं।

(क) जो नित्य या वास्तव वस्तु-समूह का भी परम नित्य है (एवं जो नित्य चेतन-समूह का मुख्यचेतन है इत्यादि।)

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु का संकीर्त्तन-आन्दोलन

[वर्ष १, संख्या १, पृष्ठ २४ के आगे]

अपनी सन्तानों का प्रति पालन ही कार्यदक्षता समझी जायगी। नाम के लिए मनुष्य धर्मयाजन करेंगे। जब ऐसी प्रजाओं से पृथ्वी भर जायगी, तब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में जो कोई बलवान होंगे वे ही राज्य शासन का अधिकार प्राप्त करेंगे। राज्य के अधिकारी अपने-अपने फायदे के लिए घृणित दस्युओं जैसे हो जायेंगे जिनके उत्पीड़न से प्रजा अपने धन तथा स्त्री-आदि का परित्याग कर जंगल और पहाड़ी-प्रदेशों में आश्रय ग्रहण करेगी, तथा जंगली शाक, मूल और मांसादि आहार कर जीवन धारण करेगी। दुर्भिक्ष तथा राज्य-कर की वृद्धि होने से दुःखी प्रजा दिन-दिन क्षय रोगों से आक्रान्त होकर प्राण परित्याग करेगी। वह शीत, वायु, वर्षा और हिम आदि के कारण प्रपीड़ित होकर तथा परस्पर विवाद करने के कारण नित्य भूख, प्यास, आधि-व्याधि तथा अधिक चिन्ता के कारण सन्तप्त रहेगी। मनुष्यों की आयु अधिक-से-अधिक तीस वर्ष की होगी। अनेक दुःखों के कारण वे क्षीणकाय होंगे। वेदानुग-धर्म का पालन नहीं होने से सभी शूद्र-प्राय हो जायेंगे। फल स्वरूप वे चौर्य, मिथ्या, हिंसा आदि वृत्तियों के आधीन होंगे।

जब सारी प्रजा शूद्र-प्राय हो जायगी, जब गाय बकरियों के समान क्षुद्र आकृति की, बादल केवल विद्युत-प्राय, बड़े-बड़े ग्राम जन-शून्य, धर्म भगवद्भक्तिहीन पाषण्ड-प्राय, राजपुरुष दस्यु-प्राय, औषधियाँ हीनप्रभ और वृक्ष शमी वृक्ष जैसे छोटे-छोटे हो जायेंगे तथा जब मनुष्यों को जीविका निर्वाहके लिए गदहों के समान दुःसह-परिश्रम करना होगा, तब कलियुग के अन्तिम भाग में शुद्ध-सत्त्व अखिलात्मा भगवान् धर्म की रक्षा के लिए अवतीर्ण होंगे।

साधुओं के कर्म विमोचन तथा धर्म की रक्षा के लिये चराचर जगत-गुरु सर्व अन्तर्यामी जगदीश्वर श्रीहरि का प्रादुर्भाव होता है। अतः सम्भल नामक प्रसिद्ध नगर में विष्णुयशा नामक उत्तम ब्राह्मण के गृह में भगवान् कल्कि का अवतार होगा। वे अणिमा लघिमा, ईशिता, प्रभृति अष्टैश्वर्य समन्वित तथा सत्य संकल्प आदि गुणों से विभूषित होकर देवदत्त नामक घोड़े पर सवार हो खड्ग द्वारा असाधु व्यक्तियों तथा राजवेशधारी कोटि-कोटि घृणित दस्युओं का विनाश करेंगे।

कलियुग के मनुष्य अधिक-से-अधिक तमोगुण द्वारा प्रभावित होकर मिथ्या, तंद्रा, निद्रा, आलस्य, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय तथा दारिद्रय आदि अपगुणों में अनुरक्त होंगे। वे अदूरदर्शी, मन्द बुद्धि मन्द-भाग्य बहु भोगी तथा कामी होंगे तथा स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी होंगी। बड़े-बड़े जनपद समूह दस्युओं द्वारा आक्रान्त होंगे। वेद-धर्म पाषण्डी मतों द्वारा भगवद्भक्तिहीन प्रचारकों द्वारा दूषित होगा। राजपुरुष प्रजा का भक्षण करने वाले तथा ब्राह्मण लोग शिश्नोदर परायण होंगे। ब्रह्मचारी आश्रम-विहित आचारों की रक्षा न करेंगे। गृहस्थ लोग भीख मांगेंगे तथा वानप्रस्थके पालन करने वाले वन परित्याग कर ग्रामों में निवास करेंगे, संन्यासी अति धन लोभी होंगे। स्त्रियाँ अत्यन्त छोटे कद की हो जायेंगी। वे अति भोजन करने वाली, अनेक सन्तानों को उत्पन्न करने वाली, लज्जाहीना तथा कटु-भाषिणी होंगी।

कलियुग में वणिक लोग धनहीन होने के कारण काले-बाजारों में जुआ-चोरी करते-करते क्रय-विक्रय करेंगे तथा साधारण लोग आपत्-काल के बिना भी असाधु एवं घृणित कार्य कलापों को अधिक महत्त्व देंगे।

नौकर अपने सर्व गुण सम्पन्न पर धनहीन स्वामियों का तथा स्वामी अपने विपद्ग्रस्त नौकरों का परित्याग करेंगे। वृद्ध गायों का निरादर होगा। पुरुष अपने माता-पिता, सुहृद तथा स्वजनों का परित्याग कर अपनी स्त्री के आधीन हो जायेंगे। शूद्र लोग तपस्वियों तथा साधु-सन्यासियों का वेश ग्रहण कर दान-प्रतिग्रह तथा अधर्मों का अनुष्ठान

करेंगे। वे उत्तम आसन पर बैठ कर निरीश्वर धर्मों की व्याख्या करेंगे।

कलियुग में मनुष्य अन्न, वस्त्र, पान, शय्या, स्त्री संभोग, अलंकार तथा प्रसाधन सामग्री से वर्जित होकर अतिशय कुत्सित एवं पिशाच की तरह शरीर धारण करेंगे।

(क्रमशः)

—श्रीअभयचरण भक्तिवेदान्त

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति के उत्सव

(१) श्रीउद्धारण गौड़ीय मठ में

रथ-यात्रा और विरह-उत्सव—

गौड़ीय वैष्णवाचार्य-कुलतिलक ॐ विष्णुपाद श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर के तिरोभाव तथा श्रीश्रीजगन्नाथदेव की रथयात्रा के उपलक्ष्य में पश्चिम बंगाल के अन्तर्गत चिनसुरा शहर में श्रीउद्धारण गौड़ीय मठ में विगत सौर ५ आषाढ़, २०१२ सम्वत्, २० जून १९५५, सोमवार से लेकर सौर १४ आषाढ़, २०१२ सम्वत्, २९ जून १९५५, बुधवार पर्यन्त दश दिवस व्यापी, प्रवचन, कीर्तन, वक्तृता, छाया-चित्र द्वारा वक्तृता, इष्ट-गोष्ठी, श्रीविग्रह सेवा-पूजा, भोग-राग, आरती, महाप्रसाद वितरण प्रभृति विविध भक्ति-अंगों का याजन करते-करते विराट महामहोत्सव का अनुष्ठान किया गया है।

इस वर्ष श्रील आचार्यदेव स्वयं उपस्थित न होने पर भी उनकी शुभ इच्छा से त्रिदण्डि-स्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज ने मठ के अन्यान्य सेवकों को साथ लेकर इस उत्सव को सुन्दर रूप से सुसम्पन्न किया है। हम इसके लिए उनको धन्यवाद ज्ञापन कर रहे हैं।

(२) श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ में

(क) श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का विरह-उत्सव

मथुरा के श्रीकेशवजी गौड़ीयमठ में विगत सौर ५ आषाढ़ २०१२, सम्वत्, २० जून १९५५ को ॐ विष्णुपाद श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर का विरह महोत्सव सुसम्पन्न हुआ है। व्रज मण्डल के अन्तर्गत मधुवन तथा मथुरा के अन्यान्य भक्तों ने योगदान कर इस उत्सव को साफल्य-मण्डित किया था।

(ख) श्रील सनातन गोस्वामी का विरह उत्सव—

श्रील सनातन गोस्वामी का नाम भारत के धार्मिक समाज में सर्वत्र ही विघोषित है। विगत सौर २० आषाढ़, २०१२ सम्वत्, ५ जुलाई १९५५, मंगलवार पूर्णिमा तिथि को व्रजमण्डल में सर्वत्र ही उनके विरह महोत्सव का पालन किया गया। इसी आषाढ़ पूर्णिमा का अवलम्बन कर उन्होंने शरीर-त्याग किया था तथा वे जगत् के गुरु हैं, इसीलिए इस तिथि का नाम 'गुरु-पूर्णिमा' है। इस तिथि को व्रज में सर्वत्र ही सभी सम्प्रदायों द्वारा उनका विरह-उत्सव मनाया जाता है। श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ में भी उनका विरह-उत्सव मनाया गया और उन्होंने ही श्रीमन्महाप्रभु के निर्देश से अपने अनुगत मुक्त-पुरुषों को साथ लेकर व्रजधाम को पुनः प्रकाशित किया है—इस विषय की विशद आलोचना की गयी।

क्षमा प्रार्थना

स्थानीय प्रेसों में हड़ताल होने के कारण श्रीपत्रिका निर्द्धारित-समय में प्रकाशित न हो सकी। अतः इन्हें भेजने में विलम्ब हुआ। सहृदय पाठकगण इसके लिए क्षमा करेंगे।

आम्नायाचार्य श्रीश्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी रचित

श्रीचैतन्य चरितामृत

ग्रन्थराज का विराट एवं अभूतपूर्व हिन्दी संस्करण
श्रीअभयचरण भक्तिवेदान्त द्वारा संपादित

लगभग (८"×५") २००० पृष्ठों में उत्तम कागज और सुन्दर चित्रों के साथ प्रकाशित होनेके लिए यंत्रस्थ हुए हैं ।

सहृदय ग्राहकों की सुविधा के लिए कम से कम ६४ पृष्ठों के एक एक खण्ड में क्रमशः प्रकाशित होंगे । इसमें श्रीचैतन्य चरितामृत का एक एक संस्कृत श्लोक तथा बँगला पयार का आधुनिक हिन्दी राष्ट्रभाषा में अन्वय, शब्दार्थ, परिभाषा तथा सारस्वत विवृति आदि विवरण हैं । इसमें भागवत धर्म के मुख्य ग्रंथ-वेद वेदाङ्ग, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शन तथा तंत्रों का साङ्गोपाङ्ग प्रामाणिक विवेचन है । यह ग्रंथ राष्ट्र-भाषा का एक अपूर्व अवदान है ।

लगभग ३२ खण्डों में ये ग्रंथराज पूर्ण होंगे । एक खण्ड का मूल्य १) होगा । जो ग्राहक सम्पूर्ण ग्रंथ का मूल्य अग्रिम जमा कर देंगे उन्हें सम्पूर्ण ग्रंथ डाक खर्च के साथ २५) में दिया जायगा । विशेष विवरण के लिए निम्नलिखित पते पर पत्र व्यवहार करें ।

पता— श्रीयुत अभयचरण भक्तिवेदान्त
श्रीकेशवजी गौड़ीयमठ, कंसटीला
पो० मथुरा (उ० प्र०)